मुनि नथमल

आदर्श साहित्य संघ

मैं
मेरा मन
मेरी शान्ति

द्वितीय आवृत्ति

प्यास जीवन की शाश्वत अपेक्षा है और जल उसका चिरकालीन समाधान। कंठ और होठों में प्रगट होनेवाली यह प्यास अन्तिम प्यास नहीं है। एक प्यास इससे भी गहरे में है। वह इससे अधिक तीव्र है। वह इतनी गूढ है कि उसके समाधान की दिशा अभी भी अनावृत नहीं है। उसके समाहित होने पर मनुष्य का हर चरण तृप्ति और सुख की अनुभूति के नीलोत्पल का स्पर्श करते हुए आगे बढता है और उसकी असमाहित दशा में मानवीय चरण क्लेश और क्लांति के कंटकाकीर्ण पथ की अनुभूति में विदीर्ण हो जाता है। नियति का कितना क्रूर व्यंग्य है कि मनुष्य को सुख की साधन-सामग्री उपलब्ध है, किन्तु उसकी अनुभूति का महास्रोत उपलब्ध नहीं है। वह है शान्ति।

शान्ति चेतना की नकारात्मक स्थिति नहीं है। वह मन की मूर्च्छा नहीं है। वह अन्तःकरण की क्रियात्मक शक्ति है। अन्तःकरण जब अन्तःकरण का स्पर्श करता है, मन जब मन में विलीन होता है और चैतन्य का दीप जब चैतन्य के स्नेह से प्रदीप्त होता है तब क्रियात्मक शक्ति प्रगट होती है। वही है मन की शान्ति।

शान्ति का प्रश्न जितना युगीन है उतना ही प्राचीन है। इसके शाश्वत स्वर को श्रव्य करने का यह विनम्र प्रयत्न आपके हाथों में है। इसकी मांग भी, मुझे ज्ञात हुआ है (प्रथम आवृत्ति चार मास में ही समाप्त हो गई), उतनी ही है जितनी शान्ति की है। इसकी मांग उस चाह की पूर्ति का निमित्त बन सके, इससे अतिरिक्त मेरे लिए अभिलषणीय क्या हो सकता है?

राजनांदगांव (मध्यप्रदेश) —मुनि नथमल

३० अप्रैल, १९७०

प्राथमिकी

'मैं और मेरा मन' यह सम्बन्ध-परिकल्पना अनेक वितर्क उपस्थित करती है। क्या मन को छोडकर 'मैं' (अहं) की व्याख्या की जा सकती है? क्या मन ही अपनी कल्पनाओ मे उलझकर 'मैं' की स्थापना या व्याख्या नही कर रहा है ? क्या बुद्धि मन का ही एक प्रकोष्ठ नही है ? अतीन्द्रिय ज्ञान की परिकल्पना क्या वास्तविक है ? ऐसे अनेक वितर्क है और हजारो-हजारो वर्षों से ये इसी भाषा मे पुनरावृत्त होते आ रहे हैं। सामान्य मनुष्य का ज्ञान परोक्षानुभूति की सीमा मे होता है। इसलिए चर्चित प्रश्न उत्तरित होकर भी अनुत्तरित रहे हैं। इन प्रश्नो के समाधान का ऋजु मार्ग है मन का स्थिरीकरण और विलयीकरण। इसी स्थिति का नाम आत्मानुभूति है।

मन के विलयन के पश्चात् जो अनुभूति होती है, वह श्रुत या शब्द-ज्ञान नही होता। वह चेतना की उस गहराई मे उद्भूत ज्ञान होता है, जिस तक मन पहुच ही नही पाता। इन्द्रिय और मन की खिडकी को खोलकर देखने वाला वही देख पाता है, जो उनकी पकड मे होता है। किन्तु क्या सत्य उतना ही है, जितना उनकी पकड मे है ? यदि सत्य उतना ही होता तो वैज्ञानिक उपकरण अप्रयोजनीय हो जाते। इन्द्रिय और मन की पकड मे भी बहुत तारतम्य है। यदि यह नही होता तो विकास का स्तर तर-तमता से शून्य होता। हजारो-हजारो वर्षो की लम्बी अवधि मे मनुष्य का जो ज्ञात हुआ है वह अज्ञात की तुलना मे एक बिन्दु से अधिक नही है। अज्ञात के सिन्धु को तरे बिना ज्ञात के बिन्दु को 'इदमित्थमेव' मे आवृत करने का अर्थ होता है शेष सत्य की अस्वीकृति। कोई भी तत्त्वविद् ऐसा करने को कैसे सम्मत हो सकता है ?

चेतना के तीन स्तर—ऐन्द्रियिक, मानसिक और बौद्धिक—हमारे प्रत्यक्ष हैं, किन्तु उसका अतीन्द्रिय स्तर हमारे प्रत्यक्ष नही है—इन्द्रिय, मन और बुद्धि से निर्मित व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष नही है। इसीलिए मैं चेतना से अभिन्न होकर भी वहिश्चेतन और अन्तश्चेतन—इन दो रूपो मे विभक्त हू। मैं अमूर्त होकर भी दृश्य और अदृश्य इन दो रूप मे विभक्त हू। इस विभक्ति का अन्त दर्शन के द्वारा ही लब्ध हो सकता है।

दर्शन पारदर्शी या देशकालातीत प्रत्यक्ष-बोध है। वह बौद्धिक व्यायाम नही है, इसलिए वह वहा पहुचता है, जहा बुद्धि की पहुच नही है। प्रत्यक्ष मे कोई समस्या नही होती। सारी समस्याए परोक्ष की परिधि मे पल्लवित होती हैं। दर्शन की स्थापनाए इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अतीत हैं। इसीलिए उन्हें नकारने मे जो सहजानुभूति होती है, वह उन्हें हकारने मे नही होती। मनुष्य की स्वाभाविक बोधधारा और गतिक्रम की तुलना मे आप भारतीय दर्शन की बोधधारा और गतिक्रम को पढ़ें, समस्याए परोक्ष की परिक्रमा करती हुई अपने आप आपके सामने आ जाएगी।

	स्वाभाविक बोधधारा	दार्शनिक बोधधारा
१	दृश्य जगत् मे आस्था।	दृश्य की अपेक्षा अदृश्य जगत् मे आस्था
२	वर्तमान जीवन मे आस्था।	वर्तमान जीवन की अपेक्षा शाश्वत जीवन मे आस्था।
३	बुद्धि की अन्तिम प्रामाणिकता।	दर्शन की अन्तिम प्रामाणिकता।
४	इन्द्रिय-दृष्ट-सत्य मे आस्था।	इन्द्रिय-दृष्ट की अपेक्षा अतीन्द्रिय-दृष्ट सत्य मे आस्था।
५	मनोलब्ध-सत्य में आस्था।	आत्म-लब्ध सत्य मे आस्था।

	स्वाभाविक गतिक्रम	दार्शनिक गतिक्रम
१	विषय के प्रति अनुराग।	विषय के प्रति विराग।
२	अशाश्वत के प्रति अनुराग।	शाश्वत के प्रति अनुराग।

विषयानुक्रम

मैं और मेरा मन

३ इच्छा-पूर्ति । इच्छा-सयम।

४ वाह्य के प्रति विमुक्तता । अतम् के प्रति विमुक्तता ।

५ सामाजिकता । वैयक्तिकता ।

दशन के सुदूर अन्तरिक्ष मे प्रस्थान कर जो प्रश्न उपस्थित किए हैं, उन्हे मैं 'अह की भापा मे प्रस्तुत करूगा और उनका उत्तर भी मैं 'अह' की भापा मे दूगा । इम धारा मे पाठक मेरे 'जह' को न पढे । वे पढें कि मनुष्य के वौद्धिक व्यक्तित्व से उसका दार्शनिक व्यक्तित्व कितना सूक्ष्म, कितना प्रभावी और कितना समथ है । शान्ति इसी अन्ययन की परिणति है ।

आचायश्री तुलमी ने मेरी अन्तश्चेतना मे अध्यात्म का वीज-वपन किया था । वह दशन या प्रत्यक्षानुभूति के रूप मे पल्लवित हुआ है । इसीलिए मैं श्रुत, चिन्तित या वितर्कित सत्य की अपेक्षा दृष्ट-सत्य को अधिक महत्त्व देता हू । अपनी अन्तर्-अनुभूति को जागृत करने मे जो कम-कौशल है, वह दूसरो की वात मानने और अपनी वात मनवाने मे नहा है । जिस दिन हम मान्यता का स्थान दशन को उपहृत करेंगे, वह धर्म की महान् उपलब्धि का दिन होगा ।

प्रस्तुत पुस्तक का कुछ अश मेरे वक्तव्यो पर आधृत है । 'मानसिक शान्ति के सोलह सूत्र'—इस माला का परिचालन मैंने अणुव्रत-शिविर (दिल्ली, १९६६) मे किया था । उसका सकलन मुनि श्रीचन्दजी ने किया है । अन्यत्र भी यत्र-तत्र उनका सकलन है । 'अणुव्रत के सन्दर्भ मे धम' विपय पर हुए वक्तव्यो के पुनर्लेखन मे मुझे मुनि श्रीचन्दजी तथा चन्दनमल 'चाद', एम० ए० के सक्षिप्त लेखाशो से सहयोग मिला है। प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन मुनि दुलहराजजी ने किया है । मैं इन सवके प्रति हार्दिक सहानुभूति अभिव्यक्त करता हू ।

—मुनि नथमल

जयसिंहपुर

१८ मार्च, १९६८

विषयानुक्रम

मैं और मेरा मन

धर्म-क्रान्ति

मानसिक शान्ति के सोलह सूत्र

व्यक्तिगत साधना के आठ सूत्र

सामुदायिक साधना के आठ सूत्र

मै और मेरा मन

१ मै

मैं मुनि हू। आचार्यश्री तुलमी का वरद हस्त मुझे प्राप्त है। मेरा मुनि-धर्म जड क्रियाकाण्ड से अनुस्यूत नही है। मेरी आस्था उस मुनित्व मे है जो बुझी हुई ज्योति न हो। मेरी आस्था उस मुनित्व मे है, जहा आनद का सागर हिलोरें भर रहा हो। मेरी आस्था उस मुनित्व मे है, जहा शक्ति का स्रोत सतत प्रवाही हो।

मैं एक परम्परा का अनुगमन करता हू, किन्तु उसके गतिशील तत्त्वो को स्थितिशील नही मानता। मैं शास्त्रो से लाभान्वित होता हू, किन्तु उनका भार ढोने मे विश्वास नही करता।

मुझे जो दृष्टि प्राप्त हुई है, उसमे अतीत और वर्तमान का वियोग नही है, योग है। मुझे जो चेतना प्राप्त हुई है, वह तव-मम के भेद से प्रतिबद्ध नही है, मुक्त है। मुझे जो साधना मिली है, वह सत्य की पूजा नही करती, शल्य-चिकित्सा करती है।

सत्य की निरकुश जिज्ञासा ही मेरा जीवन-धर्म है। वही मेरा मुनित्व है। मैं उसे चादर की भाति ओढे हुए नही हू, वह बीज की भाति मेरे अन्तस्तल से अकुरित हो रहा है।

एक दिन भारतीय लोग प्रत्यक्षानुभूति की दिशा मे गतिशील थे। अब वह वेग अवरुद्ध हो गया है। आज का भारतीय मानस परोक्षानुभूति मे प्रताडित है। वह बाहर मे जय का ऋण ही नही ले रहा है, चिन्तन का ऋण भी ले रहा है। उसकी शक्तिहीनता का यह स्वत स्फूर्त साक्ष्य है। मेरी आदिम, मध्यम और अन्तिम आकाक्षा यही है कि मैं आज के भारत

१ मैं

मैं मुनि हू। आचार्यश्री तुलसी का वरद हस्त मुझे प्राप्त है। मेरा मुनि-धर्म जड क्रियाकाण्ड से अनुस्यूत नहीं है। मेरी आस्था उस मुनित्व म है जो बुझी हुई ज्योति न हो। मेरी आस्था उस मुनित्व मे है, जहा आनद का सागर हिलोरें भर रहा हो। मेरी आस्था उस मुनित्व मे है, जहा शक्ति का स्रोत सतत प्रवाही हो।

मैं एक परम्परा का अनुगमन करता हू, किन्तु उसके गतिशील तत्त्वा को स्थितिशील नही मानता। मैं शास्त्रो से लाभान्वित होता हू, किन्तु उनका भार ढोने मे विश्वास नही करता।

मुझे जो दृष्टि प्राप्त हुई है, उसमे अतीत और वर्तमान का वियोग नहीं है, योग है। मुझे जो चेतना प्राप्त हुई है, वह तव-मम के भेद मे प्रतिबद्ध नहीं है, मुक्त है। मुझे जो साधना मिली है, वह सत्य की पूजा नहीं करती, शल्य-चिकित्सा करती है।

सत्य की निरकुश जिज्ञासा ही मेरा जीवन-धर्म है। वही मेरा मुनित्व है। मैं उसे चादर की भाति ओढे हुए नहीं हू, वह बीज की भाति मेरे अन्तस्तल से अकुरित हो रहा है।

एक दिन भारतीय लोग प्रत्यक्षानुभूति की दिशा म गतिशील थे। अब वह वेग अवरुद्ध हो गया है। आज का भारतीय मानस परोक्षानुभूति मे प्रताडित है। वह बाहर से अर्थ का ऋण ही नहीं ले रहा ह, चिन्तन का ऋण भी ले रहा है। उसकी शक्तिहीनता का यह स्वत स्फूर्त साक्ष्य है। मेरी आदिम, मध्यम और अन्तिम आकाक्षा यही है कि मैं आज के भारत

को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाने और प्रत्यक्षानुभूति की ओर ले जाने मे अपना योग दू।

२ मानसिक स्तर पर उभरते प्रश्न

रात की वेला थी। मैं बैठा था और मेरे सामने बिजली जल रही थी। उसका प्रवाह गया और घना अंधकार छा गया। दो पल मे फिर उसका प्रवाह आया और फिर प्रकाश हो गया। दस मिनट मे ऐसी तीन-चार आवृत्तियाँ हुई। मैंने सोचा, प्रकाश स्वाभाविक नही है, वह कृत्रिम है। स्वाभाविक है अंधकार। उसका न कोई शक्ति-स्थान (पावर-हाउस) है और न ही उसके लिए कोई बटन दबाना होता है। हर कोई समझ सकता है कि वह कृत्रिम नही है। प्रकाश के लिए कितना चाहिए—बिजलीघर, विद्युत-प्रवाह, प्रदीप आदि बहुत कुछ।

मैंने फिर सोचा, मनुष्य कैसा आग्रही है। जो स्वाभाविक है उससे दूर भागता है और जो स्वाभाविक नही है उसके लिए प्रयत्न करता है। क्षमा स्वाभाविक नही है। स्वाभाविक है क्रोध। प्रतिकूल वातावरण मे क्रोध सहज ही उभर आता है। क्षमा सहज ही प्राप्त नही होती। उसके लिए चिरकालीन अभ्यास करना होता है और अभ्यास करने पर भी अनगिन बार क्रोध क्षमा को पराजित कर देता है।

मैंने मन ही मन सोचा—मैं मुनि हू और मुनि होने के कारण उपदेष्टा भी हू। मैं जनता को सम्बोधित कर रहा हू कि वह क्षमा करे। मैंने क्षमा करने के लिए अनेक बार जनता को सम्बोधित किया है। क्रोध करने के लिए उसे कभी सम्बोधित नही किया। फिर भी वह जितनी बार और जितना क्रोध करती है, उतनी बार और उतनी क्षमा नही करती तो फिर उसका क्या हेतु है कि मैं उसे क्षमा के लिए बार-बार सम्बोधित करू ?

मैंने देखा, एक आदमी बहुत डरता है। वह डर का वातावरण उद-

स्थित होनेपर ही नही डरता किन्तु मानसिक कल्पना से भी डरता है। वह जीवित है। वास्तविक मौत उसकी नही हो रही है, फिर भी वह काल्पनिक मौत से डरता है और बहुत बार डरता है। मैंने उसे समझाया कि वह डरे नही। मौत एक दिन निश्चित है, डरेगा तो भी और न डरेगा तो भी। डर के बिना जो मौत आएगी, वह दु खद नही होगी। जो डर के साथ आएगी, वह भयकर होगी। इतना समझाने पर भी वह जितना भीरु है, उतना अभय नही है। इस परिस्थिति के सदर्भ मे मैं फिर उसी रेखा पर पहुचता हू कि भय स्वाभाविक है, अभय स्वाभाविक नही है।

काल की लम्बी शृ खला मे अनेक तत्त्वविद् हुए हैं। उन्होंने गाया है—'काम ! मैं तेरा रूप जानता हू। तू सकल्प से उत्पन्न होता है। मैं तेरा सकल्प ही नहीं करूगा, फिर तू मेरे मन की परिधि मे कैसे आएगा ?' किन्तु ऐसे गीत गाने वाले भी उससे अनेक बार पराजित हुए हैं। ब्रह्मचय के लिए जिस कठोर सयम की साधना है, उसे देख हर कोई इस निष्कर्ष पर पहुच सकता है कि अब्रह्मचय स्वाभाविक है, ब्रह्मचय स्वाभाविक नहीं है।

मैं नही समझ सका—यह क्या है और क्यो है कि जिस वस्तु के प्रति सहज आकषण है, उसे हम हेय मान बैठे हैं और जिसके प्रति हमारा सहज आकषण नही है उसे उपादेय !

आकषण उस वस्तु के प्रति होता है, जिसकी आवश्यकता हमे अनुभूत होती है। अन्न और जल की आवश्यकता प्रत्यक्ष अनुभूत है। दुनिया के किसी भी अचल मे कोई किसी को यह उपदेश नही देता कि तुम अन्न खाओ, जल पीओ, अन्न खाना और जल पीना जरूरी है। यदि तुम ऐसा नही करोगे तो तुम्हे पछतावा करना होगा। 'मैं सौगध खाकर कहता हू कि तुम अन्न खाओ, जल पीओ, तुम्हें सुख मिलेगा'—यह कहते मैंने किसी को नही सुना। उपदेश की जरूरत क्या है ? भूख लगती है तो वह अपने आप रोटी खाता है। प्यास लगती है तो वह अपने आप पानी पीता है। भूख लगने पर न खाने से कष्ट होता है और खाने से सुख मिलता है। हर आदमी चाहता है कि कष्ट न हो, सुख मिले। इसलिए वह खाता है। खाने के प्रति

इसीलिए आकर्षण है कि उसके बिना कष्ट होता है, घुटने टिक जाते हैं, काम नहीं चलता।

मैं आपसे पूछूं—क्या आपको श्रम की आवश्यकता का अनुभव होता है ? क्या उसके बिना आपको कष्ट होता है ? घुटने टिक जाते हैं ? आपका काम नहीं चलता ? ऐसा अनुभव नहीं है। यदि उसकी आवश्यकता का प्रत्यक्ष अनुभव होता तो उसके लिए उपदेश देने की जरूरत नहीं होती। सौगन्ध खा-खाकर श्रम की प्रशंसा के पुल बांधने आवश्यक नहीं होते। ऐसा होता है, इसीलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि श्रम स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक वह है जो शरीर की मांग है। स्वाभाविक वह है जो मन की मांग है। जीवन और क्या है ? देह और मन का संयोग ही जीवन है। जीवन की परिभाषा है, स्वाभाविक मांग की पूर्ति। क्या श्रम जीवन की स्वाभाविक मांग है ?

मैं देखता हूं कि हजारों वर्षों से हजारों व्यक्तियों ने अस्वाभाविक को स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी वह पाषाण-रेखा मिट नहीं सकी। आज भी आहार, नींद और मैथुन के प्रति वही आकर्षण है, जो हजारों वर्ष पहले था। उपवास, जागरण और ब्रह्मचर्य से आज भी मनुष्य उतना ही कतराता है, जितना हजारों वर्ष पहले कतराता था। लड़ाई, घृणा और शोक उतने ही प्रिय हैं, जितने हजारों वर्ष पहले थे। शान्ति, प्रेम और प्रसन्नता से वह आज भी उतना ही दूर है, जितना हजारों वर्ष पहले था।

आप पूछेंगे—इस सूरज ने किया क्या ? वह प्रतिदिन नील नभ में चमकता है फिर भी अंधकार है और वह वैसा ही है। यह प्रकृति द्वन्द्व को चाहती है। इसीलिए अंधकार भी है और प्रकाश भी है। सूरज बेचारा क्या करे ?

आप पूछेंगे—इन औषधों ने क्या किया ? जैसे-जैसे उनका प्रयोग बढ़ा है, वैसे-वैसे बीमारियां बढ़ी हैं। यह प्रकृति द्वन्द्व को चाहती है। इसीलिए बीमारियां भी हैं और औषध भी है। वैद्य बेचारा क्या करे ?

३ स्वाभाविकता के सापेक्ष मूल्य

सांझ की वेला थी। सूरज अभी आकाश पर था। अचानक बादल आए। आकाश सहित सूरज आवृत हो गया। बूंदें गिरने लगी। देखते-देखते धारा-सपात हो चला। बिजली कौंधी। ओले बरसने लगे। मैं देखता हू, सामने पेड पर एक बन्दर बैठा है। वह ठड के मारे ठिठुर रहा है। मैं तत्काल सुदूर अतीत की ओर लौट चला। मैंने सोचा, आज आदमी भी ऐसे ही ठिठुरता, यदि उसमे शून्य को भरने का चैतन्य और पौरुष नही होता। शून्य स्वाभाविक है। पर प्रबुद्ध मनुष्य ने उसे सदा चुनौती दी है और उसे भरा है। गगनचुम्बी अट्टालिकाओ का निर्माण प्रकृति पर मनुष्य की महान् विजय है।

मैंने देखा, चूल्हे मे आग जल रही है। दूध उबल रहा है। आच तेज हुई। दूध मे उफान आया। पास मे बैठी युवती ने जल के छीटे डाले। उफान शान्त हो गया। फिर उफान और फिर जल के छीट—तीन-चार आवृतियो के बाद दूध का पात्र नीचे उतार लिया गया।

उबलते दूध का उफनना स्वाभाविक है। क्या स्वाभाविक को चुनौती दिए विना मनुष्य का पौरुष प्रज्वलित नहीं होता ? मैं मन ही मन सोच रहा था। न जाने किस अज्ञात दिशा ने मुखर स्वर मे कहा—हर पौरुष प्रकृति को चुनौती है। वह देकर ही मनुष्य दूध पी सकता है।

मैं ऊपर की दोनो घटनाओ के सदर्भ मे देखता हू—हमारी दृश्य-सृष्टि मे स्वाभाविक वही है, जिसे पौरुष की चुनौती नही मिली है। उसके मिलते ही जो 'है' वह 'होता है' के आकार मे बदल जाता है। 'है' और 'होने' के बीच की जो दूरी है, वही पुरुष है। 'है' और 'होने' के बीच की दूरी को जो घटाता है, वही पौरुष है। मनुष्य 'है' की अपेक्षा होना है' को अधिक पसन्द करता है। इसीलिए उसका सनातन स्वर है—

'पुरुष ! तू पराक्रम कर !'

मैं सागर के तट पर बैठा-बैठा अतल गहराई मे छिपी हुई उसकी

आत्मा को निहार रहा था। मैंने देखा, उसी क्षण सामने की ओर मे ऊर्मिया आयी और मेरी छाया से टकराकर फिर असीम विस्तार की ओर लौट गई। क्या मैं इसे स्वीकार करू कि सागर मे ऊर्मियो का होना स्वाभाविक नही है ? क्या यह स्वीकार सत्य के साथ आखमिचौनी जैसा नही होगा ? क्या मैं उससे लाभान्वित होऊगा ? सागर का होना और ऊर्मिया का न होना वैसा ही असत् है, जैसाकि सूर्य का होना और दिन का न होना। क्या मैं इस तथ्य को स्वीकार करू कि देह के सागर मे मन का जल हिलोरें भर रहा है, किन्तु उसमे काम, क्रोध और भय की ऊर्मिया नही है ? क्या इस स्वीकार मात्र से मैं अध्यात्म की चोटी पर चढ जाऊगा ? मैं सचाई को अनावृत करने मे जो लाभ देखता हू, वह आवृत करने मे नही देखता।

मैं कम्बल मे लिपटा हुआ कमरे के एक पार्श्व मे बैठा हू। उसका एक दरवाजा खुला है। खिडकिया बन्द हैं। उत्तर की बर्फीली हवा मे सारा वातावरण प्रकपित हो रहा है। मैं समाचारपत्र मे पढ रहा हू कि आर्कटिक महासागर जम गया है। मैं बैठा-बैठा देख रहा हू कि उस बर्फीले सागर मे ऊर्मियाँ नही हैं। क्या मैं स्वीकार करू कि सागर के स्वभाव का परिवर्तन नही है ? क्या इस स्वीकार से मैं सत्य को आवृत कर सकूगा ? सागर का सघन होना और ऊर्मियो का न होना वैसा ही सत् है जैसा कि सूर्य के अस्तित्व मे दिन का होना।

क्या मैं इस तथ्य को स्वीकार करू कि देह के सागर का जल जम गया है, उसमे काम, क्रोध और भय की ऊर्मिया नही हैं ? मन का सघन होना और ऊर्मियो का न होना एक ही तथ्य की स्वीकृति की दो भाषा-पद्धतिया है। मन का जल केन्द्रीकरण की प्रक्रिया से सघन हो जाता है और ऊर्मिया शान्त हो जाती है। मैं अभी केन्द्रीकरण की प्रक्रिया नही बता रहा हू, किन्तु यह बता रहा हू कि स्वाभाविक को बदल देना पुरुष का पौरुष है। इसीलिए यह सनातन स्वर वायुमण्डल मे प्रतिध्वनित होता रहा है—

'पुरुष ! तू पराक्रम क

पुरुष इसीलिए महान् है कि उसमे पौरुष है। पौरुष इसीलिए महान् है कि उसे स्वाभाविक मे परिवर्तन लाने की क्षमता प्राप्त है। प्रबुद्ध और पराक्रमी पुरुष जो 'है' उसी से सन्तुष्ट नही होता, किन्तु जो 'होना है' उसी ओर गतिशील रहता है। यह गतिशीलता ही स्वाभाविक को अस्वाभाविक और अस्वाभाविक को स्वाभाविक बना देती है। स्वाभाविकता स्थिति-सापेक्ष अनुभूति है। उसका निरपेक्ष रूप हमारी प्रत्यक्षानुभूति मे नही है।

मैंने देखा, एक आदमी खुजला रहा है और लहू-लुहान हो रहा है। मैंने उससे पूछा—घाव पड रहे हैं, फिर क्यो खुजलाते हो ? उसने सहज मुद्रा मे उत्तर दिया—खुजलाने मे बहुत आनन्द है। मैं उसके उत्तर से सहमत नही हो सका। मैं यह समझने मे असमर्थ रहा कि खुजलाने मे भी कोई आनन्द है। मैं फिर थोडे गहरे मे गया। मेरी बुद्धि ने स्वीकृति दे दी, वह ठीक कह रहा था। खुजलाने मे जो आनन्दानुभूति है, उसे वही जान सकता है, जो खुजली के कीटाणुओ से आक्रान्त है। मैं उन कीटाणुओ से मुक्त हू, इसलिए उसके आनन्द की भूमिका तक कैसे पहुच सकता हू ?

क्या अब्रह्म और ब्रह्म की स्थिति इससे भिन्न है ? अब्रह्मचर्य के कीटाणुओ से आक्रान्त व्यक्ति को भोग मे आनन्दानुभूति होती है, किन्तु उस व्यक्ति को नही होती, जो उन कीटाणुओ से अनाक्रान्त है।

मैं आपसे पूछता हू, क्या भूख लगने पर खाना सुख है ? मैं नही समझ सका, यह कोई सुख है। भूख एक बीमारी है। भूख क्या है ? जो जठराग्नि की पीडा है, वही भूख है। यह रोज की बीमारी है, इसलिए हम इसे बीमारी नहीं मानते। जो पीडा कभी-कभी होती है, उसे हम बीमारी मान लेते हैं। मैं देख रहा हू, एक आदमी ज्वर से पीडित है। वह दवा ले रहा है। क्या दवा लेना भी कोई सुख है ? यह सुख नही है, किन्तु रोग का प्रतिकार है। मैं इसी भाषा में दोहराना चाहता हू कि रोटी खाना भी सुख नही है, किन्तु रोग का प्रतिकार है। यह सही है, सुख के प्रति मनुष्य का आकर्षण होता है। यह भी उतना ही सही है—बहुत बार मनुष्य असुख को भी सुख मान बैठता है।

जैसे-जैसे चैतन्य की अग्रिम भूमिकाए विकसित होती हैं, वैसे-वैसे यह विपर्यय निरस्त होता चला जाता है। स्वाभाविक और सुख की मान्यताए भी बदल जाती है। आकर्षण का केन्द्र भी कोई नया बन जाता है। वही शाश्वत स्वर फिर कानों में टकरा रहा है—

'पुरुष! तू पराक्रम कर।'

पराक्रम परिवर्तन की भूमिका में प्रस्फुटित होता है। परिवर्तन पदार्थ के धरातल पर ही नहीं होता, चैतन्य-जगत् में भी होता है। जो है, वही स्वाभाविक है, इस स्वीकृति का अर्थ होता है, विकास का अवरोध। विकास के क्रम में स्वाभाविकता के सापेक्ष मूल्य बदलते चले जाते हैं। मनुष्य ने इस क्रम को स्वीकृति दी, इसीलिए वह तात्कालिक आक्रमण से दीर्घकालीन समझौता-वार्तालाप तक पहुच गया। वह चैतन्य जगत् में भी विकास की उस भूमिका तक पहुच सकता है, जहा उसकी स्वाभाविकता को कोई दूसरी स्वाभाविकता चुनौती न दे सके। यही है उसका अस्तित्व-बोध, जो प्रत्यक्षानुभूति से सतत प्रवाहित होता रहा है।

४ : सत्य क्या है ?

तुम्हे इसका अचरज है कि मैं आत्मा को नहीं मानता। मुझे इसका अचरज है कि तुम आत्मा को नही जानते, फिर भी मानते हो कि वह है। क्या तुमने कभी देखा कि आत्मा है ? क्या देखे बिना कोई जान सकता है कि वह है ? जानना वही है, जो देखना है। जो जानता है, वह मानता नही और जो मानता है, वह जानता नही।

तुमने मान रखा है कि आत्मा है। इससे तुम्हे प्रकाश कब मिला ? तुम्हे प्रकाश तब मिलता, जब तुम जान पाते कि आत्मा है।

मैंने मान रखा है कि आत्मा नही है। इससे मुझे अधकार कब मिला ? मुझे अधकार तब मिलता, जब मैं जान पाता कि आत्मा नहीं है। तुम भी

मान रहे हो और मैं भी मान रहा हू । मानना आखिर मानना ही तो है । तो मैं तुम्हे एक कहानी सुनाऊ —

एक गृह-स्वामिनी ने अपने नौकर से कहा — जाओ, बाजार से घी ले आओ। वह बोला—मैं इस समय नही जा सकता । मुझे अधेरे मे डर लगता है । गृह-स्वामिनी बोली—तुम यह मान लो कि डर कुछ भी नही है । बेचारा चला । सीढियो से ही फिर लौट आया । गृह-स्वामिनी ने फिर वही उपाय बताया । वह फिर चला और फिर बीच मे से ही लौट आया । तीसरी बार फिर उपदेश मिला । वह सीढियो से नीचे उतरा और दो ही क्षणो मे भरा बतन ला गृह-स्वामिनी के सामने रख दिया । उसने पूछा—क्या घी ले आए ? नौकर बोला—हा, ले आया । उसने सूघकर कहा—अरे ! घी कहा ? यह तो गधे का मूत्र है । नौकर बोला—तुम मान लो यह घी ही है । वह बोली—जो घी नही उसे मैं घी कैसे मान लू ? नौकर बोला—मुझे डर लगता है, तब मैं कैसे मान लू कि डर कुछ भी नही है ?

यह तर्क के प्रति तर्क है । मानने की दुनिया मे और है ही क्या ? तर्क के प्रति तक और फिर तक के प्रति तर्क और तव तक तक, जब तक मानना समाप्त न हो जाए । मैं मानता हू कि धम जीवन की स्वाभाविक माग नही है । तुम मानते हो कि वह जीवन की स्वाभाविक माग है । ये दोनो मान्यताए हैं । सत्य क्या है ? यह तुम भी नही जानते और मैं भी नही जानता ।

मैं जब-जब जानने के साधनो के बारे मे सोचता हू तो मुझे लगता है कि हमारे दाशनिक बहुत भ्रान्ति मे हैं । उनकी सत्य की कल्पना मृग-मरीचिका से अधिक अर्थवान् नही है । उन्होने कहा है—सत्य अतीन्द्रिय है । मैं आपसे कहू हमारे पास जानने के दो साधन हैं—

१ इन्द्रिय,

२ मन ।

मैं नही समझ सका, फिर उन्होने यह किस ज्ञान से जाना कि सत्य इन्द्रिय और मन से परे है । हमारे कुछ दाशनिक इन्द्रिय और मन से ज्ञात

होने वाले पदार्थों को मिथ्या मानते है और सत्य उसे मानते हैं, जो इनके द्वारा नही जाना जाता। उनका मानना है कि इन्द्रिय और मन का ज्ञान सशय और विपर्यय से युक्त होता है, इसलिए वह अभ्रान्त नही होता। आख का काम देखना है पर वातावरण धुधला हो या दूरी हो तो पता नही लगता, सामने वाला कौन है, खभा है या आदमी ? सीपी पर सूरज की किरणे पडती है, तब जान पडता है कि वह चादी है। कफ बढ जाता है, तब मीठी चीज भी कडवी लगती है और साप-काटे को नीम भी मीठा लगता है। हर इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी वातावरण और परिस्थिति से इतना प्रभावित होता है कि उससे वास्तविक सत्य जाना ही नही जा सकता।

इन्द्रिय की भाति मन भी सशय और विपर्यय के जाल मे फसा रहता है। क्या प्रशसा से पेट भरता है ? नही भरता, फिर भी आदमी उसके लिए खाली पेट रह जाता है।

गाली के प्रति गाली देने मे सुख की अनुभूति होती है। दूसरे को अपने से छोटा मानने मे सुख मिलता है।

समझे आप उनका तर्क ! इसी तर्क के सहारे वे कहते हैं कि इन्द्रिय और मन वास्तविक सत्य को नही जान सकते। इसी दृष्टि के आधार पर वे कहते आए हैं कि इन्द्रिय और मन का सुख वास्तविक नही है। पर मैं आपसे पूछू—क्या हमारे पास वास्तविकता की कोई कसौटी है ?

इन्द्रिय और मन से परे कोई वास्तविकता है तो होगी। हम उसे कैसे जाने ? हमारे पास उनके अतिरिक्त जानने का कोई साधन ही नही। जो साधन है, उन्हे भ्रान्त मानकर उनके निर्णय को मिथ्या माने और जो साधन नही है, उस पर विश्वास करे, क्या यह भ्रान्ति नही है ?

५ सूक्ष्म की समस्या

सूर्य आकाश मे चमक रहा है। मैंने देखा, रात को असख्य नक्षत्र और

तारे आकाश मे टिमटिमा रहे थे, किन्तु अब एक भी नही है। सारे दीप बुझ गए हैं। केवल एक सूय चमक रहा है। क्या यह मत्य है ?

एक सरसरी निगाह मे यह मत्य है, किन्तु गहराई मे यह मत्य नही है। सत्य यह है कि नक्षत्र और तारे सूय के प्रखर प्रकाश से आवृत ह, अस्तित्वहीन नही हैं।

क्या कोई अस्तित्व कभी विनष्ट होता है ? क्या जो है, वह चिर-भविष्य मे नही होगा ? क्या जो है, वह चिर-अतीत मे नही था ? जो है, वह सदा था और सदा होगा। जो पहले नही था और आगे नही होगा, वह आज भी नही हो सकता। मैं देख रहा हू, जो पेड पतझड मे नगा था, वह वसत मे लहलहा रहा है। जो वसत म लहलहा रहा था, वह पतझड मे नगा है। नगा होना और लहलहाना पेड का अस्तित्व नही है। ये उसके अस्तित्व की अभिव्यक्तिया हैं। जीवन और मृत्यु हमारा अस्तित्व नही है। ये हमारे अस्तित्व की अभिव्यक्तिया हैं।

जो व्यक्त है, वह अस्तित्व नही है। वह अस्तित्व की ऊर्मि-माला है। अस्तित्व उसके नीचे है। इन्द्रिय और मन ऊर्मि माला के माध्यम से ही अस्तित्व तक पहुच पाते हैं। इसीलिए उनकी स्वीकृति या अस्वीकृति प्रत्यक्षानुभूति की स्वीकृति या अस्वीकृति नही होती।

खिडकी की जाली से छन-छनकर सूर्य की रश्मिया आ रही हैं। उनके आलोक मे मैं असख्य गतिशील रजकणो का देख रहा हू और देख रहा हू कि कुछ क्षण पूव ये उपलब्ध नही थे।

ध्वनि-ग्रहण का फीता घूम रहा है। मैं पूर्व-परिचित ध्वनि सुन रहा हू। कुछ क्षण पूर्व यह ध्वनि उपलब्ध नही थी।

सूक्ष्म जब स्थूल बनता है, आवृत जब प्रत्यावृत होता है और दूरस्थ जब निकटस्थ होता है, तब अव्यक्त व्यक्त और अनुपलब्ध उपलब्ध हो जाता है।

मैं प्रकाश में देखता हू, वह धुधले मे नही देख पाता। सूक्ष्मवीक्षण से देखता हू, वह कोरी आख से नही देख पाता। यह तारतम्य मुझे उस कोटि

होने वाले पदार्थों को मिथ्या मानते हैं और सत्य उसे मानते हैं, जो उनके द्वारा नही जाना जाता। उनका मानना है कि इन्द्रिय और मन का ज्ञान सशय और विपर्यय से युक्त होता है, इसलिए वह अभ्रान्त नही होता। आख का काम देखना है पर वातावरण धुधला हो या दूरी हो तो पता नही लगता, सामने वाला कौन है, खभा है या आदमी? सीपी पर सूरज की किरणे पडती है, तब जान पडता है कि वह चादी है। कफ बढ जाता है, तब मीठी चीज भी कडवी लगती है और साप-काटे को नीम भी मीठा लगता है। हर इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी वातावरण और परिस्थिति से इतना प्रभावित होता है कि उससे वास्तविक सत्य जाना ही नही जा सकता।

इन्द्रिय की भाति मन भी सशय और विपर्यय के जाल मे फसा रहता है। क्या प्रशसा से पेट भरता है? नही भरता, फिर भी आदमी उसके लिए खाली पेट रह जाता है।

गाली के प्रति गाली देने मे सुख की अनुभूति होती है। दूसरे को अपने से छोटा मानने मे सुख मिलता है।

समझे आप उनका तर्क! इसी तर्क के सहारे वे कहते हैं कि इन्द्रिय और मन वास्तविक सत्य को नही जान सकते। इसी दृष्टि के आधार पर वे कहते आए हैं कि इन्द्रिय और मन का सुख वास्तविक नही है। पर मैं आपसे पूछू—क्या हमारे पास वास्तविकता की कोई कसौटी है?

इन्द्रिय और मन से परे कोई वास्तविकता है तो होगी। हम उसे कैसे जाने? हमारे पास उनके अतिरिक्त जानने का कोई साधन ही नही। जो साधन हैं, उन्हे भ्रान्त मानकर उनके निर्णय को मिथ्या मानें और जो साधन नही है, उस पर विश्वास करे, क्या यह भ्रान्ति नही है?

५ सूक्ष्म की समस्या

सूर्य आकाश मे चमक रहा है। मैंने देखा, रात को असख्य नक्षत्र और

तारे आकाश मे टिमटिमा रहे थे, किन्तु अब एक भी नही है। सारे दीप बुझ गए हैं। केवल एक सूर्य चमक रहा है। क्या यह सत्य है ?

एक सरसरी निगाह मे यह सत्य है, किन्तु गहराई मे यह सत्य नही है। सत्य यह है कि नक्षत्र और तारे सूय के प्रखर प्रकाश से आवृत ह, अस्तित्वहीन नही हैं।

क्या कोई अस्तित्व कभी विनष्ट होता है ? क्या जो है, वह चिर-भविष्य मे नही होगा ? क्या जो है, वह चिर-अतीत मे नही था ? जो है, वह सदा था और सदा होगा। जो पहले नही था और आगे नहीं होगा, वह आज भी नही हो सकता। मैं देख रहा हू, जो पेड पतझड मे नगा था, वह वसत मे लहलहा रहा है। जो वसत मे लहलहा रहा था, वह पतझड मे नगा है। नगा होना और लहलहाना पेड का अस्तित्व नही है। ये उसके अस्तित्व की अभिव्यक्तिया हैं। जीवन और मृत्यु हमारा अस्तित्व नही है। ये हमारे अस्तित्व की अभिव्यक्तिया हैं।

जो व्यक्त है, वह अस्तित्व नही है। वह अस्तित्व की ऊर्मि-माला है। अस्तित्व उसके नीचे है। इन्द्रिय और मन ऊर्मि-माला के माध्यम से ही अस्तित्व तक पहुच पाते हैं। इसीलिए उनकी स्वीकृति या अस्वीकृति प्रत्यक्षानुभूति की स्वीकृति या अस्वीकृति नही होती।

खिडकी की जाली से छन-छनकर सूय की रश्मिया आ रही हैं। उनके आलोक मे मैं असख्य गतिशील रजकणो को देख रहा हू और देख रहा हू कि कुछ क्षण पूव ये उपलब्ध नही थे।

ध्वनि-ग्रहण का फीता घूम रहा है। मैं पूव-परिचित ध्वनि सुन रहा हू। कुछ क्षण पूव यह ध्वनि उपलब्ध नही थी।

सूक्ष्म जब स्थूल बनता है, आवृत जब अनावृत होता है और दूरस्थ जब निकटस्थ होता है, तब अव्यक्त व्यक्त और अनुपलब्ध उपलब्ध हो जाता है।

मैं प्रकाश मे देखता हू, वह धुधले म नही देख पाता। सूक्ष्मवीक्षण से देखता हू, वह कोरी आख से नही देख पाता। यह तारतम्य मुझे उस कोटि

तक ले जाता है कि मैं अनावृत ज्ञान मे देख सकता हू, वह सूक्ष्मवीक्षण से नही देख मकता।

जहा तारनम्य है, वहा 'अतिमेत्थ' भी है। वही सत्य की उपलब्धि का अन्तिम साधन है। वही भारतीय दशन की भापा मे अतीन्द्रिय ज्ञान है। उसकी भूमिका पर से ही यह कहा जाता है कि मत्य वही नही है, जो व्यक्त, स्थूल, प्रत्यावृत और निकटम्थ है। जो अव्यक्त, सूक्ष्म, आवृत और दूरम्थ है, वह भी सत्य है। मैं प्रतिभा की खिडकी को खोलकर झाकता हू, तव मेरे सामने सत्य आकाश की भाति अनन्त और असीम होता है। और जव मैं इन्द्रिय और मन के किवाडो से प्रतिभा की खिडकियो को वन्द कर झाकता हू, तव मेरे सामने मत्य वन्द कमरे की भाति शान्त और समीम हो जाता है। उम वन्द कमरे मे, मैं मान्यता (परोक्षानुभूति) के वातवलय से घिर जाता हू।

एक दिन मैं अपलक आकाश की ओर निहार रहा था। मेरी तात्त्विक मान्यता की भापा ने मुझे म्मृति दिलाई, आकाश असीम है। उमी क्षण व्यावहारिक मान्यता की भापा ने उमका प्रतिवाद किया, आकाश ससीम है। मैं द्विविधा मे फम गया। मेरे सामने प्रश्नचिह्न उभर गया, क्या आकाश असीम है या समीम ? मैं लम्वे ममय तक उस प्रश्नचिह्न को पढता रहा। अचानक खतरे का भोपू वज उठा। विमानवेधी तोपो ने गोलिया दागनी शुरू कर दी। शान्त वातावरण तुमुल मे वदल गया। यह मव क्यो हुआ, मैंने सहज ही जिज्ञामा की। मुझे उत्तर मिला, हमारी सीमा मे शत्रु के विमान घुस आए हैं। उन्हे ध्वम्त किया जा रहा है।

धरती की सीमा से हमारे पूवज परिचित थे। समुद्री सीमा मे भी वे परिचित हो गए थे। धरती और ममुद्र दोनो ममीम ह। इमलिए उन्ह सीमा मे वाधना उनको स्वाभाविक लगा होगा। आकाश मे मीमा की कल्पना उन्होने नही की होगी। इम चिन्तन के अनन्तर ही मेरी दृष्टि न्यायशास्त्र की मीमा मे जा अटकी। वहा मुझे घटाकाश, पटाकाश, गृहाकाश जैसे शब्द-विन्याम मिले। जव मैं इम तथ्य को अस्वीकार नही कर

सका कि आकाश ससीम है ।

मैं यदि तक-प्रबुद्ध होता तो इस सत्य की उपलब्धि से सतुष्ट हो जाता। किन्तु मैं देखना चाहता था, इसलिए इस उपलब्धि ने मुझे सन्तोष नही दिया। मैं दर्शन की भूमिका मे पहुच तक के वातवलय से मुक्त हो गया। वहा मुझे दिखा, आकाश असीम है। आकाश असीम है, यह उसका अस्तित्व है और मेरा दर्शन। आकाश ससीम है, यह अस्तित्व और ममत्व का योग है और मेरा शब्द-बोध है। मनुष्य ने जहा अस्तित्व को ममत्व से आबद्ध किया है, वहा असीम सीमा मे बधा है। यह सीमाकरण मनुष्य की कृति है, आकाश का वास्तविक अस्तित्व नही है। घट है तब तक घटाकाश है। घट फूटा और घटाकाश विलीन हो गया। उसके साथ-साथ आकाश को ससीम मानने की मेरी बुद्धि भी विलीन हो गई। अब मुझे स्पष्ट दीख रहा है कि आकाश केवल आकाश है और वह सीमायुक्त नही है। उसे ससीम मानना ऊर्मि-माला मे प्रतिफलित मान्यता है, अस्तित्व का वास्तविक बोध नही है।

आप पूछ सकते हैं, घटाकाश मान्यता कैसे है? वह अपना काम कर रहा है—जल को टिकाए हुए है। हम मुक्त आकाश को घट माने और उसमे जल डालें तो वह नीचे गिर जाएगा, कही टिकेगा नही। यह हमारी मान्यता हो सकती है। किन्तु जिसमे जल टिका हुआ है, वह केवल मान्यता नही हो सकती।

मैं मान्यता के दो स्तर देख रहा हू—एक काल्पनिक और दूसरा परिवतन से समुत्पन्न। मुक्त आकाश मे घटाकाश का समारोपण मान्यता का काल्पनिक स्तर है। घटाकाश का बोध मान्यता का परिवतन से समुत्पन्न स्तर है। पहला स्तर वतमान आकार मे असत् है। दूसरा स्तर वर्तमान आकार मे सत् है। किन्तु वास्तविक अस्तित्व की मर्यादा यह है कि आकाश आकाश है और वह असीम है।

मैं देख रहा हू, एक चिडिया दपण पर चोच मार रही है। वह वस्तुस्थिति से अनजान है। इसीलिए वह अपने प्रतिबिम्ब को अपना प्रतिपक्ष

मान रही है। यदि वह जान पाती तो अपने प्रतिबिम्ब को अपना प्रतिपक्ष नही मानती।

रात का समय है। कोई मनुष्य दौडा जा रहा है। उसने देखा, उसके साथ-साथ कोई दूसरा व्यक्ति दौड रहा है। वह भयभीत हो मुडा। उसके साथ दूसरा व्यक्ति भी मुड गया। वह जिधर घूमा, उधर दूसरा भी घूम गया। वह भय से घिर गया। उसके पैर वही रुक गए। यदि वह जान पाता तो अपनी छाया से भयाक्रान्त नही होता। चिडिया अपने प्रतिबिम्ब को अपना प्रतिपक्ष मानती है। उसमे अज्ञान का घना अधकार है। मनुष्य अपनी छाया से डरता है उसमे मोह का घना अधकार है।

दीवार के उस पार कोई बोल रहा है। मैं उसे पहचान लेता हू। उसमे परोक्षानुभूति का अधकार है।

मानने के नीचे वैसे ही अधकार होता है, जैसे दीपक के तल मे अधकार। जानना वैसे ही सवत प्रकाशमय होता है, जैसे सूय। सूय बादलो मे घिरा होता है, प्रकाश मद हो जाता है। ज्ञान आवरण और व्यवधान से घिरा होता है। जानना मानने मे बदल जाता है। सूय को मैं जानता हू किन्तु मानता नही हू। सुमेरु को मैं मानता हू किन्तु जानता नही हू। अस्तित्व के साथ मैं सीधा सम्पर्क स्थापित करता हू, वह मेरा जानना है—प्रत्यक्षानुभूति है। अस्तित्व के साथ मैं किसी माध्यम से सम्पर्क स्थापित करता हू, वह मेरा मानना है—परोक्षानुभूति है। प्रकाश जैसे-जैसे आवृत होता जाता है, वैसे-वैसे मैं जानने से मानने की ओर झुकता जाता हू। प्रकाश जैसे-जैसे अनावृत होता जाता है, वैसे-वैसे मैं मानने से जानने की ओर बढता जाता हू। मानने से जानने तक पहुचना भारतीय दशन का ध्येय है, और पहुच जाना अस्तित्व का प्रत्यक्ष-बोध है। मैं सूय को जानता हू, उससे सूर्य का अस्तित्व नही है। बीहड जगलो मे विकसित फूल को मैं नही जानता हू, उससे फूल का अनास्तित्व नही है। अस्तित्व अपनी गुणात्मक सत्ता है। वह न जानने-मानने से बनती है और न न-जानने-मानने से विघटित होती है। फूल की उपयोगिता मेरे जानने मे निष्पन्न

होती है और न जानने से विघटित हो जाती है। उपयोगिता मेरा और अस्तित्व का योग है। अस्तित्व दो का योग नही है किन्तु वह निरपेक्ष है। 'मैं हू'—यह निरपेक्ष अस्तित्व है। दूसरे मुझे अनुभव करते है, इसलिए मैं नही हू किन्तु मैं हू, इसलिए मुझे दूसरे अनुभव करते हैं। मैं अपने आप मे अपना अनुभव करता हू, इसीलिए मैं हू।

६ बौद्धिक स्तर पर उभरते प्रश्न

मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा हू। मैं मानता था कि दर्शनशास्त्र को पढे बिना सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। मैंने भारतीय दर्शन पढे। पश्चिमी दर्शनो का भी थोडा-बहुत अध्ययन किया। किन्तु अब मैं देखता हू तो मुझे लगता है कि उनमे दर्शन नही है, कोरा बुद्धिवाद का व्यायाम है। यह सचाई है, मनुष्य का सारा विकास बुद्धि पर अवलम्बित है। विज्ञान ने अकल्पित उन्नति की है। अन्तरिक्ष मे यान भेजे हैं। एक यान भूमि से अन्तरिक्ष मे उडता है और ठीक समय पर अन्तरिक्ष से भूमि पर उतर आता है। क्या यह सचाई नही है? विमान वेधी तोपें सुदूर अन्तरिक्ष मे तैरते हुए विमान को मार गिराती हैं। चालक-विहीन विमान ठीक लक्ष्य पर बम बरसा जाते हैं। कितने उदाहरण उपस्थित करू! बीसवी शताब्दी का कोई भी आदमी इस प्रत्यक्ष को आखें मूदकर अस्वीकार नही कर सकता। फिर भी हमारे दर्शनशास्त्री कहते हैं—जो दृश्य है, वह सत्य नही है, सत्य वह है जो अदृश्य है। जो बुद्धिगम्य है वह सत्य नही है, सत्य वह है जो बुद्धि से परे है।

बुद्धि कोई विचित्र नटी है। वह न जाने कितने रूप बदलना जानती है। सारी लीला उसकी है, फिर भी उसने अपने को पर्दे के पीछे रखकर किसी ऐसे ज्ञान की कल्पना की है, जिसका मनुष्य से कोई सम्बन्ध ही नही है। मेरे मन की जिज्ञासा है, जिसने यह कहा कि जहा बुद्धि समाप्त होती

चेतन अचेतन नही हो सकता, यह केवल तर्कशास्त्र का नियम है, ◦
कुछ अधिक भी है ? हमारे तत्त्वविदो ने कहा है—आत्मा रथिक है,
रथ है। रथ के बारे मे हमे कोई सन्देह नही है। वह सबके सामने है।
जितना सन्देह है, वह सब रथिक के बारे मे है। जो कहते हैं कि रथिक है,
उन्होने भी नही देखा है कि वह है और जो कहते हैं कि रथिक नही है,
उन्होने भी नही देखा है कि वह नही है। जिसने यह प्रश्न खडा किया कि
आत्मा है, तब उसके प्रतिपक्ष मे यह स्वर उठा कि वह नही है। बुद्धि की
सीमा को अधिकृत करने के लिए आस्तिक और नास्तिक—दोनो सेनाए
आमने-सामने खडी हैं। दोनो के पास तर्क के तीखे तीर हैं। देखें अब क्या
होता है ?

७ . मेरा अस्तित्व

मैं फ्लू मे ग्रस्त था, इसलिए सो रहा था। छोटा गाव, छोटा मकान,
मुक्त आकाश और मुक्त मन। सामने एक पेड था। उजली दुपहरी मे सब
के सब चमक रहे थे। मैंने एक बार पेड की ओर दृष्टि डाली और दूसरी
बार आकाश की ओर। विराट आकाश के सामने वह पेड बहुत छोटा लग
रहा था। छोटा किन्तु अनन्त। आकाश क्षेत्र और काल दोनो दृष्टियो मे
अनन्त है, किन्तु काल की दृष्टि से पेड भी अनन्त है। उसका एक भी अणु
कभी नष्ट होने वाला नही है। वह दर्शन के इस शाश्वत नियम से आबद्ध
है—

"जो आज है वह अतीत मे था और भविष्य मे होगा। जो पहले नही
था और पश्चात् नही होगा, वह आज भी नही हो सकता।"

आकाश और पेड को अपने अस्तित्व के बारे मे न सन्देह है और न
निश्चय। फिर भी उनका अस्तित्व अनन्त और अबाध है।

मैंने सोचा, इस विश्व मे एक अणु भी ऐसा नहीं है कि जो आज है और

कल नही होगा तो फिर मैं अपने अस्तित्व के बारे मे कैसे सन्देह कर सकता हू । क्या मैं विश्व-व्यवस्था के उस शाश्वत नियम का अपवाद हू ? मैंने फिर सोचा, जब एक अणु भी उसका अपवाद नही है तब मैं उसका अपवाद कैसे हो सकता हू ? चिन्तन और आगे बढा तो मैंने सोचा, फिर मनुष्य ही ऐसा अभागा क्यो, जिसे अपने अस्तित्व मे सन्देह है ? मैंने देखा, मनुष्य की चेतना पेड की चेतना से विकसित है, इसलिए उसे अपने अस्तित्व के बारे मे सन्देह होता है और उसकी चेतना योगी की चेतना की भाति विकसित नही है, इसलिए वह अपने अस्तित्व की अनन्तता का निश्चय नही कर पाता है । इस प्रकार वह सन्देह की पीठ पर चढकर भी निश्चय की चोटी तक नही पहुच पाता है ।

इस दुनिया मे कुछ सत्य स्थूल है, कुछ सूक्ष्म और कुछ अमूर्त । मैं स्थूल सत्यो को स्थूल साधनो और सूक्ष्म सत्यो को सूक्ष्म साधनो से जान जाता हू, किन्तु अमूर्त (अरूप) सत्यो को जानने का मेरे पास कोई साधन नही है । एक आम मेरेसामने है । आख से उसे मैं देख लेता हू । जीभ से उसे चख लेता हू । घ्राण से उसके गन्ध का अनुभव कर लेता हू । त्वचा से उसका स्पर्श-ज्ञान कर लेता हू । क्योकि वह स्थूल सत्य है । अणु सूक्ष्म सत्य है । उसे मैं अपनी आख, जीभ, घ्राण या त्वचा से नही देख पाता हू, किन्तु सूक्ष्म वीक्षण के सहारे उसे भी देख लेता हू ।

अमूर्त सत्य सूक्ष्म होने के साथ-साथ अरूप होते है, इसलिए उन्हे किसी सूक्ष्मवीक्षण के माध्यम से नही देखा जा सकता । अपने अस्तित्व के साक्षात्कार मे यही सबसे बडी कठिनाई है कि वह अरूप है । वह अरूप है, इसलिए इन्द्रिय-ग्राह्य नही है । वह इन्द्रिय-ग्राह्य नही है, इसलिए मेरे ज्ञान की परिधि से बाहर है । यदि मेरा अस्तित्व मुझसे सर्वथा भिन्न होता तो मैं उसे जानने के लिए केवल शब्दो का सहारा लेता । उन लोगो के शब्दो का, जो कहते है कि हमने अपने अस्तित्व का साक्षात् किया है । हजारो-हजारो व्यक्ति शब्दो के सहारे अपने अस्तित्व की शाश्वतता स्वीकार करते है और अशाश्वत शरीर को उस शाश्वत चित तत्त्व का परिधान मात्र

मानते हैं। मानने के लिए यह मैं भी मान सकता हू। किन्तु जब साक्षात् जानने के लिए उत्सुक होता हू तब मानने का सोपान नीचे रह जाता है।

इन्द्रिय मन, बुद्धि और शब्द—ये सब परोक्षानुभूति के माध्यम हैं। जानना प्रत्यक्षानुभूति है। वहा ये सब कृतकाय नही होते। इस परिस्थिति मे मैं अपने अस्तित्व की शोध से हताश हो जाता हू।

यदि मेरे अस्तित्व का प्रकाश इन्द्रिय, मन और बुद्धि मे प्रवाहित नही होता, इनकी सवेदन-शक्ति उससे विच्छिन्न होती तो मैं अपने प्रयत्न मे हताश ही हताश होता, किन्तु मेरे अस्तित्व का प्रकाश इन्द्रिय, मन और बुद्धि के माध्यम से बाह्य जगत् मे जाता है और फिर लौटकर अपने क्षेत्र मे आ जाता है। मैं बाह्य-दृष्टि हू, उसके बाहर जाने की प्रक्रिया से परिचित हू। मैं अन्तदृष्टि नही हू, उसके फिर अतस मे लौट आने की प्रक्रिया से परिचित नही हू। इसीलिए मैं अपने अस्तित्व से अपरिचित रहा हू।

एक दिन मेरे गुरु ने मुझे बताया कि चेतना का प्रवाह जिस माग से बाहर को जाता है, उसे बन्द कर दो। मैंने वैसा किया तो पाया कि मैं अपने अस्तित्व के साक्षात् सम्पर्क मे हू। वहा अब 'मैं हू' (अहमस्मि) इस आकार मे नही रहा हू। किन्तु 'मैं है' (अहमस्ति) इस आकार मे बदल गया हू यानी मैं अपनी सत्ता से अभिन्न हो गया हू। अनुभव की इसी भूमिका मे मैंने बुद्धि के प्रामाण्य को अस्वीकार किया है, बुद्धि द्वारा प्रकल्पित शरीर और आत्मा के अभेद या भेद को अस्वीकार किया है।

इस भूमिका से पूर्व जो शोध हो रही थी, वह बुद्धि-प्रेरित थी। बौद्धिक भूमिका मे मैं और चित् तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहे थे। मैं शोध करने-वाला था और चित् तत्त्व था शोध्य। एक ही तत्त्व के शोध्य और शोधक ये दो रूप नही हो सकते। बुद्धि ने मेरे और मेरे अस्तित्व के बीच मे व्यवधान डाल रखा था। जैसे ही मैंने चेतना के प्रवाह का बुद्धि के स्रोत से जाना निरुद्ध किया, वैसे ही मेरे और मेरे अस्तित्व के मध्य का व्यवधान समाप्त हो गया। अब मैं अपने अस्तित्व से भिन्न नही हू, इसलिए मेरा शोध्य-शोधक भाव भी समाप्त हो गया है।

८ ऐन्द्रियिक स्तर पर उभरते प्रश्न

मैंने बचपन मे एक छोटा-सा ग्रन्थ पढा। उसका नाम 'तेरह द्वार' है। उसमे एक जगह लिखा है—मनुष्य खाता-पीता है, वह पुद्गल है। पहनता-ओढता है, वह पुद्गल है। देखता-सुनता है, वह पुद्गल है। जितना दृश्य है, वह सारा पुद्गल है। जितना भोग्य है, वह सारा पुद्गल है। जो द्रष्टा है और भोक्ता है, वह आत्मा है।

मैंने अध्ययन की भूमिका को जरा विस्तार दिया तो जाना कि आत्मा न खाता है, न पीता है। वह न पहनता है, न ओढता है। वह न देखता है और न सुनता है।

शरीर बेचारा जड है। वह क्या खाए-पीएगा ? क्या पहने-ओढेगा ? और क्या देखे-सुनेगा ?

आखिर यह है क्या ? वह कौन है, जो सारी क्रियाए करता है ? इस जिज्ञासा के समाधान मे दर्शनशास्त्री कहते हैं, वह जीवच्छरीर है—न जीव और न शरीर, किन्तु जीव-युक्त शरीर।

इतनी जटिल प्रक्रिया को इसलिए मानना पडा कि उन्होंने जीव को माना है और एक जीव को माना इसलिए न जाने कितना मानना पडा—पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, ईश्वर, कर्म, बन्ध, मोक्ष आदि-आदि। मनुष्य इन मान्यताओ से इतना घिर गया है कि उसने अपने वर्तमान को भविष्य के हाथ मे सौंप दिया है, अपने प्रत्यक्ष को परोक्ष की कारा का बन्दी बना दिया है और अपनी अनुभूति को कल्पना के पख लगा अनन्त अज्ञात की ओर प्रस्थित कर दिया है। पता नही सचाई किसे वरमाला पहनाएगी ?

बीते युग की बात है। एक सेठ का पुत्र मुनि बनने की धुन मे था। उसका नाम था जम्बूकुमार। उसने पहले दिन आठ कुमारियो के साथ विवाह किया और दूसरे दिन मुनि बनने लगा। रात को आठो पत्नियो के साथ चर्चा हुई। उसी प्रसग मे एक पत्नी ने कहा—प्रिय ! आप प्राप्त सुखो को छोडकर काल्पनिक सुख की खोज मे जा रहे है। यह भूल-भरा

चरण है। मेरी बात याद रखिए, आगे आपको पछतावा करना होगा। मैं आपको एक कहानी सुनाऊ—

पुराने जमाने की बात है। एक मारवाड का किसान एक बार मेवाड जा पहुचा। उसने गन्ने का रस पिया। गुड खाया, चीनी खायी और चीनी से बनी हुई चीजे खायी। उसने सोचा—जहा गन्ने होते है, वह ससार कितना मधुर होता है ? बजरी और गन्ने की कोई तुलना नही है। उसने गन्ने का बीज खरीदा और वह अपने गाव चला आया। घरवालो को एकत्र कर अपने मन की बात कही। उन्होने कहा—यह फसल पकने को है, पहले इसे काट लें, फिर गन्ना बो लेंगे। वह अपनी बात पर अडा रहा। सारी सुनी-अनसुनी कर दी। पाकासन्न फसल कट गई। गन्ने की बुआई हो गई। पानी कम था। सिंचाई पूरी हुई नही। गन्ने की बुआई व्यर्थ ! खडी फसल को काटनेवाले किसान के लिए शेष बचा पछतावा। वैसे ही वर्तमान को छोड आगे के लिए दौडनेवालो के लिए शेष बचता है पछतावा।

९ सुख की जिज्ञासा

मेरी आंखो के सामने एक नारियल का पेड है। एक सीधा-सा तना, कुछ पत्ते और कुछ नारियल। बस इतना-सा दिखाई दे रहा है नारियल का पेड। जो दृश्य है वही नारियल का पेड है या इसमे कुछ अदृश्य भी है ? वह बीज दृश्य नही है, जो पेड का घटक है। वह शक्ति भी दृश्य नही है, जो पेड के रूप मे अपना अस्तित्व बनाए हुए है और जिसके द्वारा लिया जा रहा है आहार और श्वास।

हमारी इन्द्रियो की सीमा दृश्य जगत् है। वे अदृश्य जगत् का प्रतिपादन नही कर सकती, क्योकि वह उन्हे ज्ञात नही है। वे उसका निरसन भी नही कर सकती क्योकि अज्ञात का निरसन नही किया जा सकता।

दृश्यता और अदृश्यता सापेक्ष है। मैं अब आगे बढ गया हू। यह पेड

मुझे नही दीख रहा है। दीवार का व्यवधान हो गया है। व्यवहित होने पर दृश्य भी इन्द्रियो के लिए अदृश्य बन जाता है। मैं अब समतल भूमि पर चल रहा हू। फिर भी मुझे वह पेड नहीं दीख रहा है, क्योकि अब मैं उससे बहुत दूर हो गया हू। बहुत दूरी होने पर दृश्य भी इन्द्रियो के लिए अदृश्य बन जाता है। जो अणु सूक्ष्मवीक्षण से दिखाई देते हैं, वे कोरी आखो से नही दीखते। मैं जो देखता हू, वह स्थूल सृष्टि है। मैं जिसके द्वारा देखता हू, वह स्थूल दृष्टि है। सूक्ष्म सत्य को वही दृष्टि पकड सकती है, जो सूक्ष्म के साथ सम्पर्क स्थापित कर सके और सूक्ष्म पर आए हुए स्थूल के आवरण को हटा सके।

मैं चित् को पेड की भाति नहीं देख पा रहा हू क्योकि वह अमूर्त है। पेड मुझसे व्यवहित हो सकता है, दूर हो सकता है, किन्तु चित् मुझसे व्यवहित और दूर नही हो सकता, क्योकि मैं अर्थात् चित् का व्यक्त रूप चित् और परमाणु का सम्पर्क-सेतु हू।

न चित् को भूख लगती है, न परमाणु को भूख लगती है, भूख मुझे लगती है। न चित् खाता है, न परमाणु खाता है, मैं खाता हू, क्योकि मैं चित् और परमाणु के सधि-स्थल मे हू। न चित् बोलता है और न परमाणु बोलता है, मैं बोलता हू, क्योकि मैं चित् और परमाणु के सधिस्थल मे हू।

यह दृश्य जगत् चित् और परमाणु का सधि-स्थल है। सुख और दुख इसी मे है। शुद्ध चित् मे न सुख है और न दुख। वहा केवल अस्तित्व की अनुभूति है। उसे आप चाहें तो आनन्द कहें या न कहें।

शुद्ध चित् मे न बन्धन है और न मुक्ति। वहा केवल अस्तित्व की अनुभूति है। उसे आप चाहें तो मुक्ति कहे या न कहे।

शुद्ध चित् न परतत्र है और न स्वतत्र। वहा केवल अस्तित्व की अनुभूति है। उसे आप चाहें तो स्वतत्र कहें या न कहें।

सधि-स्थल मे अवस्थित चित् सुख-दुख, बधन और परतत्रता से बाधित होती है, इसलिए शुद्ध अस्तित्व की उपलब्धि होने पर पूर्वापेक्षा से कहा जाता है—वह आनन्दमय है, मुक्त है, स्वतत्र है। वह अपने अस्तित्व

३ वह अनात्यन्तिक है।

अतीन्द्रिय सुख ऐकान्तिक, निर्बाध और आत्यन्तिक है, इसलिए वह अधिक विश्वसनीय है। ऐन्द्रियिक सुख का सम्बन्ध भौतिक उपकरणो से है, इसलिए वह स्पष्ट और सहज प्रतीत होता है। अतीन्द्रिय सुख अन्तर्-दर्शन से सम्बन्धित है, इसलिए वह सहज होने पर भी असहज-सा प्रतीत होता है। सहज को असहज और असहज को सहज मानने की दृष्टि बदलने पर सुख की कल्पना बदल जाती है।

१० मन की चचलता का प्रश्न

जिसका मन शिक्षित नही है, वह धार्मिक भी नही है। धार्मिक वही है, जिसका मन शिक्षित है। मन शिक्षित नही है और वह धार्मिक है, यह विरोधाभास या आत्मभ्रान्ति है।

धर्म के विद्यालय का पहला पाठ है—मन को शिक्षित करना। यह सरल होते हुए भी कठिन हो रहा है। माला फेरते-फेरते मनके घिस गए हैं और अगुलिया भी घिस गई हैं, फिर भी यह प्रश्न समाहित नही हुआ कि मन स्थिर कैसे हो? जो प्रश्न पचास वर्ष पहले था, आज भी वह उसी रूप मे खडा है। प्रक्रिया की ओर ध्यान न देने पर आज भी यह प्रश्न समाहित नही होगा।

धर्म की पहली सीढी है—मन पर विजय पाना। केशी ने गौतम से पूछा—शत्रुओ का आपने कैसे जीता? अपने आपको आपने कैसे जीता? उत्तर में गौतम ने कहा—

'एगे जिया जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह॥'

'मन को जीता और चार कषायो पर विजय पा ली। इन पाच को जीतने से पाच इन्द्रिया भी विजित हो गई। इस प्रक्रिया से सारे शत्रुओ पर

मैंने विजय पा ली। अर्थात् अपने आप पर विजय पा ली।'

जो मन को जीतना नही जानता वह कषायो और इन्द्रियो पर विजय नही पा सकता। जो कषायो और इन्द्रियो को नही जीतता वह धार्मिक भी नही हो सकता, क्रियाकाण्डी हो सकता है।

मन क्या है और उसकी चचलता क्या है? इस पर ध्यान दें। बच्चा रोता है तब मा हौआ का भय दिखाती है। बच्चा चुप हो जाता है। वैसे ही मन की चचलता कही हौआ तो नही है? मन क्या है? मन हमारी चेतना का ही एक द्वार है। चेतना अनन्त है। उसका एक द्वार मन है। उसे चचल मानना हमारी भूल है। उसमे चचलता का आरोपण किया गया है। युद्ध मे लडने वाले सैनिक होते हैं। जीत होने पर विजय का श्रेय सेनापति को मिलता है और पराजय होने पर अपयश भी उसी का होता है। आरोपण की प्रक्रिया में एक का श्रेय-अश्रेय दूसरे को मिलता है। भलाई और बुराई दोनो का आरोपण किया जाता है।

चचल मन नही है, चचल है श्वास और चचल है शरीर। जब तक शरीर की चचलता को छोडने का अभ्यास नही होगा और जब तक श्वास के विषय में हमारा ज्ञान गम्भीर नही होगा, तब तक हम इसी भाषा मे सोचेंगे कि मन चचल है। जिस दिन शरीर, वाणी और श्वास की स्थिरता सध जाएगी, उस दिन हमे ज्ञात होगा कि मन चचल नही है।

११ मनोविकास की भूमिकाए

मन हमारी चेतना का एक बिन्दु है। हमारी प्रवृत्ति या निवृत्ति, हर कार्य मे मन का योग रहता है। मन को जानना एक अर्थ मे स्वय को जानना है। मन की गतिविधि मे अवगत रहना जागरूकता का लक्षण है। मन से परिचय मिल जाने से व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है।

मन फीता नही है जिसे खींचकर बढाया जा सके और उसका विकास

किया जा सके। मन की क्षमता, योग्यता और कार्य-सम्पादन की पद्धति मे विकास किया जा सकता है, यदि उससे परिचित हो लिया जाए। अज्ञान के कारण मन नही जान पाते हैं।

मन इन्द्रिय और आत्म-चेतना के मध्यवर्ती है। इन्द्रियो का सम्पर्क बाहरी जगत् से है और चेतना का केन्द्र अन्तर्जगत् है। मन दोनो (इन्द्रिय और चेतना) के द्वारा प्राप्त का विश्लेषण करने वाला या भोग करने वाला है।

मनोविज्ञान मानसिक विकास के दो साधन मानता है—वंशानुक्रम और वातावरण। पहला साधन स्वाभाविक क्षमता या प्राकृतिक देन है। दूसरा अभ्यास से होता है।

कवि भी दो प्रकार से होते हैं—प्रातिभ और अभ्यास-निष्पन्न। काव्य के क्षेत्र मे हम देखते हैं आठ-दस वर्ष की अवस्था मे भी कोई महान् कवि बन जाता है। दूसरे अभ्यास के पथ पर चलते-चलते महान् बनते हैं।

हर क्षेत्र की यही स्थिति है। कृष्ण से पूछा गया—मन का निग्रह कैसे किया जाए? उत्तर मिला—

'असशय महाबाहो, मनो दुर्निग्रह चलम्।
अभ्यासेन च कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥'

अभ्यास कृत होता है, अर्जित नही। वैराग्य स्वाभाविक होता है, कृत नही। योग के आचार्य पतजलि ने भी यही कहा है—'अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध होता है।' अभ्यास करते-करते निरोध की अन्तिम सीढी तक पहुचा जा सकता है। अभ्यास मे लब्ध नही होता तो पुरुषार्थ निष्फल हो जाता। अभ्यास से जो कल नही थे, आज बन सकते हैं।

मन का विकास कैसे हो? इस प्रश्न पर आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रकाश डाला है। उन्होने इसके लिए चार भूमिकाओ का उल्लेख किया है

१ विक्षिप्त, २ यातायात, ३ श्लिष्ट, ४ सुलीन।

उन्होंने योगशास्त्र में अंतिम अध्याय को छोड़कर पूर्व के सभी अध्यायों में परम्परागत (सैद्धान्तिक) ध्यान के विषय का सुन्दर प्रतिपादन किया है। अंतिम अध्याय में वे अपनी अनुभूतियां कहते हैं। अनुभूतियों में मार्मिकता है, आत्मा का स्पर्श है। कहीं-कहीं पर उनमें इतनी वेधकता आयी है, जितनी अन्यत्र कम है।

विक्षेप

यह पहली भूमिका है। इसमें साधक ध्यान करना प्रारम्भ करता है और मन को जानने का प्रयत्न करता है। तब अनुभव करता है कि मन चंचल है। दिल्ली में जब साधना-शिविर चल रहा था उसमें एक भाई ने प्रश्न किया था—ध्यान नहीं करता हूं तब मन स्थिर रहता है, ध्यान में मन अधिक चंचल हो जाता है, यह क्यों?

मैंने कहा—ध्यान नहीं करते थे उस समय मन स्थिर था, यह भ्रांति है। अंकन में भूल है। ध्यान करने की स्थिति में आए तब अनुभव हुआ मन चंचल होता है। गांव के बाहर अकुरड़ी है, हजारों उस पर चलते हैं, पर दुर्गन्ध की अनुभूति नहीं होती। उसकी सफाई के लिए कुरेदने पर बदबू भभक उठती है। क्या पहले दुर्गन्ध आती थी? नहीं, जमा हुआ ढेर था, दुर्गन्ध दबी हुई थी। मन की भी यही प्रक्रिया है। मन में विचारों के, मान्यताओं के और धारणाओं के संस्कार जमे पड़े हैं। अनुभव नहीं होता कि मन चंचल है। जब मन को साधने का प्रयत्न करते हैं तब उसकी चंचलता समझने का अवसर मिलता है।

भूमिका मे जाने से चचलता की अनुभूति होती ह।

यातायात

जो चचलता आती है वह बुराई नही है, विकास की ओर प्रयाण का पहला शुभ शकुन है। चचलता का विस्फोट या उभार आए तो भी घबराए नही, अन्तिम दिनो मे स्थिरता की अनुभूति होने लगेगी। दीया बुझता है, उस समय अधिक टिमटिमाता है। चीटी के पख आने का अर्थ है मृत्यु की निकटता। विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहस से कहा—'गुरुदेव! वासना का इतना उभार आ रहा है कि मैं अपने को सभालने मे अक्षम हू।' गुरु ने उत्तर दिया—'बहुत अच्छा है।' विवेकानन्द—'अच्छा कैसे है, जब कि मन चचल हो रहा है?'

परमहस—'तुम्हारी वासना मिट रही है। जो जमा पडा हुआ था वह निकल रहा है। ध्यान मे चचलता आए उसे छोड दो, दबाने का यत्न मत करो।'

'निवारित बहु चचल भवति,
अनिवारित स्वयमेव शाति मेति।'

रोकने का प्रयत्न मत करो। तुम देखते रहो वह कितना तेज दौड रहा है? तीव्र गति मे दौडनेवाली मोटर को ब्रेक लगाने से क्या होगा? १०५ डिग्री बुखार को एक साथ उतारने मे खतरा ही होता है। मन की गति को मत रोको। मन को खुला छोड दो। बच्चे को बाधने से न आप काम कर सकेंगे और न वह टिक सकेगा। बच्चे को खुला छोडने से आप भी काम कर सकेंगे, जरा-सा ध्यान रखें। मन को न रोकने से आप देखेंगे, कभी वह चचल है तो कभी शान्त। यातायात की भूमिका मे मन कभी स्थिर रहता है और कभी चचल।

श्लिष्ट

श्लिष्ट यानी चिपकना। मन को ध्येय के साथ चिपकाना यानी उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करना। अभ्यास करते-करते मन इस भूमिका पर आ जाता है।

सुलीन

सुलीन का अर्थ है—ध्येय मे लीन हो जाना। जैसे दूध मे चीनी घुल जाती है। घुलने मे चीनी का अस्तित्व समाप्त नही होता अपितु उसमे विलीन हो जाता है। दूध मे मिठास चीनी का अस्तित्व बताता है। इस भूमिका मे मन ध्येय मे लीन हो जाता है, मन को ध्येय मे भिन्न नही देख सकते। योग की भाषा मे आचार्यों ने इसे समरसी भाव और समापत्ति कहा है। जहा ध्येय और ध्याता की एकात्मकता सध जाती है वह सुलीन भूमिका है। पतजलि ने इसका कुछ भिन्नता मे प्रतिपादन किया है।

विक्षेप मे मन का उतार-चढाव रहता है, वहा आनन्द नही है। यातायात मे एक प्रकार के थोडे-से आनन्द का अनुभव होता है जो भौतिकता मे नही मिलता। श्लिष्ट मे बहु-आनन्द मिलता है। सुलीन की भूमिका मे बहुतर यानी परमानन्द की अनुभूति होती है।

कुछ लोग पदार्थों मे सुख और आनन्द की कल्पना करते हैं। वास्तव मे पदार्थ के बिना जो आत्मा मे आनन्द की अनुभूति होती है वह पदार्थों से नही होती।

गत वर्ष एक लेख पढा था जिसमे लिखा था कि शरीर मे दो ग्रन्थिया सटी हुई हैं—एक सुख की और एक दुख की। सुख की ग्रन्थि को उत्तेजित करने पर अखण्ड सुख की अनुभूति होने लगती है। बाह्य परिस्थिति या दुख उत्पन्न करने पर भी उसे दुख की अनुभूति नही होती। दुख की ग्रन्थि खुलने पर चारो ओर उसे दुख ही दुख दिखाई देता है।

हमारी साधना के द्वारा सुख की ग्रन्थि आहत हो जाती है। एक व्यक्ति ने बताया कि जब मैं ध्यान करने बैठता हू तो दो दिन तक बैठा रहता हू। किसी स्थिति के कारण बीच मे छोडना पडता है तो दुख होता है। चोट-सी लगती है।

खाने मे आनन्द आ सकता है पर बिना खाए-पीए भी आनन्द आ सकता है, यह कल्पना करना भी कठिन है। अन्तर् हृदय मे आनन्द सागर हिलोरें ले रहा है, लेकिन अज्ञान के कारण हम वचित रह जाते हैं

१२ व्यक्ति और समाज

मेरे सामने एक पेड है और एक पत्र है, एक जलाशय है और एक मछली है, एक जलराशि है और एक जलकण है। पत्र पेड से उत्पन्न हुआ है और उससे अलग होकर वह जी नही सकता। अत उसका अस्तित्व पेड से भिन्न नही है। मछली जल मे उत्पन्न नही है, किन्तु वह जल के विना जी नही सकती, अत उसका अस्तित्व जल से भिन्न नही है। जलकण जलराशि से उत्पन्न नही है, किन्तु वह जलराशि से विलग टिक नही सकता, अत उसका अस्तित्व जलराशि से भिन्न नहीं है। पेड और पत्र का सम्बन्ध समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध नही हो सकता। पत्रो के समूह से पेड नही बनता किन्तु पत्र पेड मे उत्पन्न होते हैं। समाज व्यक्तियो के समूह से बनता है, किन्तु व्यक्ति समाज मे उत्पन्न नही होते। मछली का कर्मक्षेत्र जलाशय है। व्यक्ति का कर्मक्षेत्र समाज है। जलकण का विस्तार-क्षेत्र जलराशि है। व्यक्ति का विस्तार-क्षेत्र समाज है। मछली का अस्तित्व जलाशय से भिन्न नही है, फिर भी समाज और व्यक्ति के सम्बन्धो की तुलना उनसे नहीं हो सकती। समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध का आधार एकजातीयता है,जबकि जल और मछली भिन्न जातीय हैं। समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध जलराशि और जलकण से तुलित होते हैं। समाज और व्यक्ति मे वैसे ही सजातीयता है जैसे जलराशि और जलकण मे है। फलित की भाषा मे समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध का निकष है—एकजातीयता से निष्पन्न एकात्मकता।

व्यक्ति समाज से एकात्मक है। कोई भी एकात्मकता अमर्यादित नही होती। जहा सामाजिक सापेक्षता है वहा व्यक्ति समाज का अभिन्न अग है। जिस परिधि मे सामाजिक सापेक्षता नही होती, वहा व्यक्ति सामाजिक रेखा का एक विन्दु है। यह निरपेक्षता अध्यात्म की परिधि मे प्राप्त होती है।

मैं देख रहा हू कि एक आदमी धनार्जन कर रहा है और घर के सभी

लोग उसका उपभोग कर रहे हैं। धन भौतिक है इसलिए वह प्रसरणशील है—एक द्वारा अर्जित होने पर भी दूसरे द्वारा भुक्त हो सकता है।

मैं देखता हूँ कि एक आदमी धन का विनिमय कर रहा है। धन भौतिक है इसलिए उसका विनिमय हो सकता है—एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु दी जा सकती है।

अध्यात्म भौतिक वस्तु नहीं है। इसीलिए वह प्रसरणशील भी नहीं है और उसका विनिमय भी नहीं हो सकता। वह आत्म-केन्द्रित है और नितान्त वैयक्तिक है। बिजली दृश्य वस्तुओं को प्रकाशित कर देती है पर उनमें अपनी प्रकाश-शक्ति नहीं भर सकती। एक व्यक्ति का आध्यात्मिक अस्तित्व दूसरे को आलोकित कर देता है किन्तु अपना आलोक दूसरे में आरोपित नहीं करता, जैसे एक प्रज्वलित दीप से दूसरा अप्रज्वलित दीप प्रज्वलित हो उठता है। हर मनुष्य में आध्यात्मिक आलोक है, और उतना ही है जितना कि महान माने जाने वाले किसी व्यक्ति में है।

मैं देख रहा हूँ अगरबत्ती जल रही है और सारा वातावरण सुगन्ध से भर गया है। अग्नि एक निमित्त है, जो अगरबत्ती की सुगन्ध को व्यक्त करती है। ऐसा ही कोई निमित्त पाकर व्यक्ति की सुगन्ध फूट पड़ती है और उसका वातावरण महक उठता है। पर यह सारा का सारा नितान्त वैयक्तिक है।

समाज की सत्ता मान लेने पर भी वैयक्तिकता को अमान्य करने में प्रमाद दिखाई देता है। समाज प्रवृत्ति-केन्द्र हो सकता है, किन्तु चैतन्य-केन्द्र नहीं हो सकता। वह हो सकता है व्यक्ति।

व्यक्ति समाजाभिमुख होकर शक्ति-स्फोट करता है और समाज व्यक्ति-अभिमुख होकर उपयोगी बनता है। व्यक्ति और समाज की निष्पक्ष व्याख्या हमें सत्य से दूर ले जाती है।

१३ व्यक्तिवाद

सूर्य! तुम मुझे प्रिय नहीं हो। तुम प्रकाशात्मा हो। सारा भूमण्डल तुम्हारे प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है। अन्धकार विलीन हो जाता है। तुम जागृतात्मा हो। तुम्हारे आने पर सोए आदमी जाग उठते हैं, नींद विलीन हो जाती है।

तुम अभयात्मा हो। तुम्हारे आने पर घरों के द्वार खुल जाते हैं। भय विलीन हो जाता है।

तुम गति के प्रेरक हो। तुम्हारे आने पर आकाश पक्षियों से भर जाता है और पथ मनुष्यों से। निष्क्रियता सक्रियता में बदल जाती है।

फिर भी तुम मुझे प्रिय नहीं हो और इसलिए नहीं हो कि तुम सारे ग्रहों पर आवरण डाल अकेले चमकना चाहते हो। समूचे समाज पर आवरण डालने वाला क्या कोई प्रिय हो सकता है? सूर्य अकेला चमकना चाहता है, इसीलिए शायद वह क्रूर हो। कोई भी व्यक्ति क्रूर हुए बिना समाज का सर्वस्व अकेला बटोरना नहीं चाहता। इसीलिए अहिंसा और अपरिग्रह का अनुबन्ध है। जिस व्यक्ति में अहिंसा का भाव नहीं होता—समानता का मनोभाव नहीं होता, वह संग्रह से विमुख नहीं हो सकता। संग्रह की प्रेरणा हिंसा है, विषमता है।

१४ सामूहिकता के बीच तैरती अनेकता

जैसा मैं हूं वैसा ही दूसरा है, यह अस्तित्व की गहराई का स्वीकार है। व्यवहार-नीति का स्वीकार यह है कि जैसा मैं हूं, वैसा दूसरा नहीं है और जैसा दूसरा है, वैसा मैं नहीं हूं। मेरी क्षमता के जो तार जैसे झंकृत हैं, दूसरे की क्षमता के तार वैसे झंकृत नहीं हैं और यह झंकार-भेद ही व्यक्ति का व्यक्तित्व है—सर्वथा स्वतंत्र और सर्वथा निजी।

हम सघीय जीवन जीते है। हम अनेक होकर एकता का प्रदर्शन करते हैं—एक साथ खाते-पीते है, उठते-बैठते हैं, बातचीत करते है, सुख-दु ख का विनिमय करते हैं, सहयोग और सहानुभूति का अभिनय करते हैं और इतना करने पर भी हम अनेक ही रहते हैं, एक नही हो पाते।

हम अनेक हैं इसीलिए हमारे सम्मुख व्यवहार है, उपचार है। एकता व्यवहार और उपचार से ऊपर उठ जाती है। हम अनेक हैं, इसलिए हमारे सम्मुख तुलादण्ड है मानदण्ड है। एकता तौल और माप से ऊपर उठ जाती है।

हम व्यवहार की भूमिका में हैं, इसलिए कोई भी तुलातीत या मापातीत नही है। हमारे पास तौल-माप का कोई सर्वसाधारण तुलादण्ड और मानदण्ड भी नही है। हम अपने ही तुलादण्ड से दूसरो को तौलते हैं और अपने ही मानदण्ड से दूसरो को मापते हैं। इसी बिन्दु पर हमारी अनेकता अपना असली रूप प्रदर्शित करती है। मैं एक हू, किन्तु अनेक लोगो के सम्पर्क मे हू, इसलिए अनेक चक्षुओ मे मेरे अनेक प्रतिबिम्ब हैं। क्या मैं सचमुच अनेक हू ? मैं जानता हू कि मैं अनेक नही हू। मैं एक हू और वस्तु-सत्य यह है कि मैं एक हू। अनेकता का आरोपण मेरा अपना धर्म नही है, वह उनका है, जो अनेक हैं। हम अनेक है, इसीलिए मैं अपने ढग से सोचता हू और दूसरा व्यक्ति अपने ढग से सोचता है। मैं उसके चिंतन मे सदेह करता हू और वह मेरे चिंतन मे सदेह करता है। मैं उसकी कार्य-पद्धति मे त्रुटि देखता हू और वह मेरी कार्य-पद्धति मे त्रुटि देखता है। मैं उसे भोला या मूर्ख मानता हू और वह मुझे भोला या मूर्ख मानता है। इस प्रकार हम एक समूह मे रहते हुए भी अपनी अनेकता को सुरक्षित रखे हुए हैं। हमारी अनेकता का एक हेतु है व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता और दूसरा है अपरिचय। हम व्यक्तिश स्वतत्र है, यह स्थिति समापनीय नही है। समाप्य स्थिति यह है कि हमारा परस्पर अपरिचय न हो। मैं जिससे परिचित नही हू, उसके प्रति मैं भ्रान्त नही हू और वह मेरे प्रति भ्रान्त नही है। मैं जिसकी सतह से परिचित हू, उसके प्रति मैं भ्रान्त हू और मेरे प्रति वह भ्रान्त है। मैं

जिसकी गहराई से परिचित हू, उसके प्रति मैं भ्रान्त नही हू और मेरे प्रति वह भ्रान्त नही है। सामाजिक जीवन मे मैं दूसरे मे भिन्न हू, उसका प्रमुख हेतु अपरिचयजनित भ्रान्ति है। सामाजिक एकता की क्रान्ति का मुख्य सूत्र होगा परिचय, निकट का परिचय अर्थात् अभ्रान्ति।

क्या मैं दूसरे से परिचित हूँ? क्या दूसरा मुझसे परिचित है? क्या मैं दूसरे से परिचित हो सकता हू? क्या दूसरा मुझसे परिचित हो सकता है?

पहले प्रश्न के उत्तर म मैं कह सकता हू कि दूसरे व्यक्ति के नाम-रूप और स्थूल व्यवहारो का परिचय मुझे प्राप्त है। मेरे नाम-रूप और स्थूल व्यवहारो का परिचय उसे प्राप्त ह। किन्तु मन की गहराइयो और उनमे उपजने वाले सूक्ष्म व्यवहारो से मैं भी परिचित नही हू और वह भी नही है। एक-दूसरे से परिचित होने की सम्भवता को मैं स्वीकार करता हू। यदि हम तीन आवर्तों का पार पा जाए तो वह सम्भव है, मेरे लिए भी और दूसरे के लिए भी। अज्ञान पहला आवर्त है। कुछ विचारक कहते हैं—जानने से दुःख होता है। मैं इस विचार का प्रतिवाद इस भाषा मे नही करूगा कि नही जानने से दुःख होता है। किन्तु इस भाषा मे करूगा कि नही जानना स्वय दुःख है। दुःख की सत्ता नही जानने की सत्ता पर अवलम्बित है। जैसे ही नही जानने की स्थिति समाप्त होती है, वैसे ही दुःख की सत्ता समाप्त हो जाती है।

दूसरा आवर्त सन्देह है। कुछ चाणक्य-पुत्र कहते हैं - दूसरो के प्रति सहसा विश्वास नही करना चाहिए। मेरे गुरु ने मुझे दूसरी तरह समझाया है। वह समझ है कि दूसरो के प्रति सहसा अविश्वास नही करना चाहिए। सन्देह सन्देह और फिर सन्देह—इस शृ खला का कही भी अन्त नही है। सन्देह का अन्तिम उपचार विश्वास है। विश्वास मे कही खतरा सम्भव हो सकता है, किन्तु अविश्वास स्वय खतरा है। विश्वास के खतरे की सक्षम जागरूकता के द्वारा चिकित्सा की जा सकती है, किन्तु अविश्वास सर्वथा अचिकित्स्य है।

मोह तीसरा आवत है। कुछ दूरदर्शी लोग शठता का व्यवहार शठ के प्रति—इस नीति-सूत्र मे सारी सफलता को निहित देखते हैं। अशुद्ध व्यवहार मे मनुष्य का हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है, इसमे उन्हे विफलता के दर्शन होते हैं। मेरे गुरु ने मुझे सफलता का सूत्र दिया है 'अशठ व्यवहार'—शठ और अशठ दोनो के प्रति। यह सूत्र विवेकहीन प्रतीत होता है। तिमिर और आलोक दोनो के प्रति समनीति क्या विवेक-सम्मत होगी ? किन्तु मेरा गुरु-मन्त्र बहुत उल्टा है। उसकी परिधि मे तिमिर और आलोक दो है ही नही।

हर तिमिर की गहराई मे आलोक भरा है और हर आलोक तिमिर से आवृत है। मैं अशठ व्यवहार इसलिए करता हू, जिसकी गहराई मे रहा आलोक सतह पर आ जाए और मैं शठता का व्यवहार इसलिए नही करता हू, जिससे आलोक तिमिर के आवरण से मुक्त हो जाए।

१५ क्या मै स्वतन्त्र हू ?

मुझे इसमे कोई आश्चर्य नही है कि मै स्वतन्त्र नही हू। मैं क्या, जिसके मन्दिर मे प्राण का प्रदीप जल रहा है, वह कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र नही है। प्राणवायु प्रवाहित हो रहा है, मैं जी रहा हू। अनाज उपज रहा है, मैं खा रहा हू। जल बरस रहा है, मैं पी रहा हू। मेरी पुष्टि अन्न और जल के अधीन है। मेरी जीवन-यात्रा प्राणवायु के अधीन है। जीवन का अर्थ है, पराधीनताओ की स्वीकृति।

मैं देख रहा हू, सामने दीवट है, दीप जल रहा है। एक मृन्मय पात्र, तेल, बाती, हवा और अग्नि, दीप इन सबकी अधीनता स्वीकार कर प्रकाश दे रहा है।

मैं देख रहा हू, बीज अकुरित हो रहा है। उर्वरभूमि, जल, धूप, प्रकाश और हवा—बीज इन सबकी अधीनता स्वीकार कर रहा है। क्या दीप

प्रकाश देने मे स्वतन्त्र है ? क्या बीज अकुरित होने मे स्वतन्त्र है ? काल, स्वभाव, नियति, भाग्य और पुरुषार्थ की शृ खला से कोई भी मुक्त नही है। फलत कोई भी स्वतन्त्र नही है।

एक पिजडा टँगा हुआ है। उसके मध्य मे एक सुग्गा बैठा है। पिजडे का द्वार खुला, सुग्गा उड गया। मैंने अपने आपसे पूछा, वह भोला पक्षी घर को छोड जगल मे क्यो चला गया ? पिजडे मे छितरे हुए मेवो को छोड सूखे पेडो की शरण मे क्यो चला गया ?

कोई अज्ञात स्वर गूज उठा—पिजडा बधन है। अनन्त शून्य की गोद मे स्वच्छद विहरने वाला सुग्गा बधन को कैसे पसन्द कर सकता है ? मैंने इसका अर्थ यह समझा कि अनन्त शून्य से घिरा हुआ है, इसलिए घेरे की शून्यता मान्य नही है।

गति-पर्याय से घिरा हुआ जल क्या कभी सेतु को मान्यता देता है ? बाध का अर्थ है, जल की विवशता। वह गति के अधीन है, इसलिए उसे स्थिति मान्य नही है। मैं यही कहना चाहता हू कि बधन का अर्थ है, अपरिहार्य अधीनता के आकाश मे परिहार्य अधीनता का सगम। और स्वतन्त्रता का अर्थ है, केवल अपरिहार्य अधीनताओ का अवशेष। कोई कैसे कह सकता है कि आदमी को स्वतन्त्रता प्रिय है, परतन्त्रता प्रिय नही है। पैरो से चलना उतना प्रिय नही है, जितना प्रिय है दूसरो के सहारे चलना।

मैं देखता हू कि दिल्ली के राजपथ कारो से भरे हैं और उनमे बैठे हजारो लोग इधर-उधर आ-जा रहे हैं। यदि वे घेरे की शक्ति से परिचित नही होते तो कारो मे नही बैठते। वे जानते हैं कि अपने पैरो से चलने वाला घटे मे तीन-चार मील ही चल सकता है।

यदि मैं घेरे की शक्ति से परिचित नही होता तो परम्परा से नही जुडता। परम्परा, सम्प्रदाय, जाति और राष्ट्र—ये सब घेरे हैं, सीमा-बद्ध हैं। इनमे शक्ति नही होती तो ये कभी समाप्त हो जाते। पर ये जी रहे हैं और इसीलिए जी रहे हैं कि विद्युत् का प्रवाह बल्ब मे घिरकर ही आलोक देता है। दृति से घिरा हुआ पवन जो कार्य कर सकता है, वह मुक्त आकाश

मे नही कर सकता। गोली मे शक्ति तभी आती है, जब वह बन्दूक से दागी जाती है। बाण मे शक्ति तभी आती है, जब वह धनुष से फेंका जाता है।

मनुष्य ने बंधन का स्वीकार मूर्खतावश नही किया है। भाषा के बंधन मे बंधा हुआ है, इसीलिए सोचता है और दूसरो तक पहुचता है। इन्द्रिय और मन मे बंधा हुआ है, इसीलिए गतिशील है। वह भूख से बंधा हुआ है, इसीलिए कार्य-रत है।

पर के प्रति व्यापृत होने के प्रेरक तत्त्व यही हैं—शरीर, भाषा, इन्द्रिय, मन और भूख। इनका प्रवृत्ति-क्षेत्र ही समाज है। स्व यदि स्व ही रहता तो मैं पूर्ण स्वतन्त्र होता। जिसके पैर स्वस्थ हो, उसे बैसाखी की अपेक्षा नही होती। मेरी अपूर्णता ने भी मुझे सापेक्षता की ओर झुकाया है। मेरे वाच्य का निगमन यह है कि मैं अपूर्ण हू, इसलिए सापेक्ष हू और सापेक्ष हू, इसलिए इस प्रश्न से आलोकित हू कि क्या मैं स्वतन्त्र हू ? स्वतंत्र वह है जो ऊपर उठता है। परतंत्र वह है जो नीचे जाता है। लिप्त नीचे जाता है। निर्लेप ऊपर उठता है। हल्का ऊपर उठता है, भारी नीचे जाता है। तुम्ब पर मिट्टी के लेप चढाए। वह जल मे डूब गया। जैसे-जैसे लेप उतरे, वह ऊपर आ गया। धुआ इसीलिए ऊपर गया कि वह हल्का है। पत्थर इसीलिए नीचे आया कि वह भारी है। ऊपर जाना लाघव की अधीनता है, और नीचे जाना भार की अधीनता। लेप ने निर्लेपता की अनुभूति दी है और अध पात ने ऊर्ध्व-गमन की।

यदि अंधकार नही होता तो प्रकाश का वह मूल्य नही होता, जो आज है। स्वास्थ्य, सुख और शान्ति का मूल्य रोग, दुःख और अशान्ति के संदर्शन मे ही आंका जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि निरपेक्ष मूल्यांकन से अतीत है और इसका अर्थ यह हुआ कि वह कालातीत है। मैं व्यक्त हू, इसलिए कालाक्रान्त हू। मैं कालाक्रान्त हू, इसलिए भूत, भविष्य और वर्तमान की मर्यादा से मर्यादित हू। क्या कोई मर्यादित व्यक्ति यह जिज्ञासा कर सकता है कि मैं स्वतंत्र हू ?

कुम्हार का चाक कुछ क्षण पहले उसकी उगली के अधीन होकर चल रहा था। अब वह उस वेग के अधीन चल रहा है, जो उगली द्वारा प्रदत्त है। मैं कभी उगली के अधीन चल रहा हू और कभी वेग के अधीन। दुनिया की सारी गतिशीलता अधीनता द्वारा नियन्त्रित है। एक बार एक राजा और मन्त्री मे विवाद हो गया। मन्त्री ने कहा—सारे लोग पत्नी की अधीनता स्वीकार कर चल रहे हैं। राजा ने इसका प्रतिवाद किया। आखिर परीक्षा की घडी आयी। दो खेमे लगे। पत्नी की अपूर्णता को मान्यता देने वाला खेमा भर गया। दूसरे खेमे मे सिर्फ एक व्यक्ति गया। राजा के पूछने पर उसने बताया कि मेरी पत्नी ने कहा है—भीड-भाड मे मत फसना, इसलिए मैं अकेला खडा हू। सारे नगर मे एक भी व्यक्ति ऐसा नही मिला, जो पत्नी द्वारा चालित न हो। सारी दुनिया मे एक भी व्यक्ति ऐसा नही है जो अपेक्षाओ द्वारा सचालित न हो।

मैं एक बार जगली सापो के पौधो से घिरा बैठा था। दोपहरी की वेला थी। सूरज अपनी प्रखर रश्मियो से उन पौधो पर आग बरसा रहा था। उन पर लगी फलियो मे तड-तड की ध्वनि हो रही थी। मैंने सस्मय दृष्टि से देखा—फलिया टूट रही हैं, दाने आकाश मे उछल रहे हैं। उछलने मे स्वतन्त्रता के आनन्द की अनुभूति थी। अनुभूति ने मुझे यह सबोध दिया कि दाने को फली की अधीनता मान्य हो सकती है, यदि वह पकने के बाद दाने को मुक्त करने के लिए प्रस्तुत हो। फल को वृन्त की अधीनता मान्य हो सकती है, यदि वह पकने के बाद फल को मुक्त करने के लिए प्रस्तुत हो। इस सचर्चा के बाद मेरे मन पर वह प्रश्न नहीं उभर रहा है कि क्या मैं स्वतत्र हू? किन्तु यह विश्वास उभर रहा है कि मैं स्वतन्त्र होने के लिए परतन्त्र हू।

से नहीं कर सकता। गोली में शक्ति तभी आती है, जब वह बन्दूक से दागी जाती है। बाण में शक्ति तभी आती है, जब वह धनुष से फेंका जाता है।

मनुष्य ने बंधन का स्वीकार मूर्खतावश नहीं किया है। भाषा के बंधन से बंधा हुआ है, इसीलिए सोचता है और दूसरों तक पहुंचता है। इन्द्रिय और मन से बंधा हुआ है, इसीलिए गतिशील है। वह भूख से बंधा हुआ है, इसीलिए कार्य-रत है।

कुम्हार का चाक कुछ क्षण पहले उसकी उगली के अधीन होकर चल रहा था। अब वह उस वेग के अधीन चल रहा है, जो उगली द्वारा प्रदत्त है। मैं कभी उगली के अधीन चल रहा हू और कभी वेग के अधीन। दुनिया की सारी गतिशीलता अधीनता द्वारा नियन्त्रित है। एक बार एक राजा और मन्त्री मे विवाद हो गया। मन्त्री ने कहा—सारे लोग पत्नी की अधीनता स्वीकार कर चल रहे हैं। राजा ने इसका प्रतिवाद किया। आखिर परीक्षा की घडी आयी। दो खेमे लगे। पत्नी की अपूर्णता को मान्यता देने वाला खेमा भर गया। दूसरे खेमे मे सिर्फ एक व्यक्ति गया। राजा के पूछने पर उसने बताया कि मेरी पत्नी ने कहा है—भीड-भाड मे मत फसना, इसलिए मैं अकेला खडा हू। सारे नगर मे एक भी व्यक्ति ऐसा नही मिला, जो पत्नी द्वारा चालित न हो। सारी दुनिया मे एक भी व्यक्ति ऐसा नही है जो अपेक्षाओ द्वारा सचालित न हो।

मैं एक बार जगली सापो के पौधो से घिरा बैठा था। दोपहरी की वेला थी। सूरज अपनी प्रखर रश्मियो से उन पौधो पर आग बरसा रहा था। उन पर लगी फलियो मे तड-तड की ध्वनि हो रही थी। मैंने सस्मय दृष्टि से देखा—फलिया टूट रही हैं, दाने आकाश मे उछल रहे हैं। उछलने मे स्वतन्त्रता के आनन्द की अनुभूति थी। अनुभूति ने मुझे यह सबोध दिया कि दाने को फली की अधीनता मान्य हो सकती है, यदि वह पकने के बाद दाने को मुक्त करने के लिए प्रस्तुत हो। फल को वृत की अधीनता मान्य हो सकती है, यदि वह पकने के बाद फल को मुक्त करने के लिए प्रस्तुत हो। इस सचर्चा के बाद मेरे मन पर वह प्रश्न नही उभर रहा है कि क्या मैं स्वतत्र हू? किन्तु यह विश्वास उभर रहा है कि मैं स्वतन्त्र होने के लिए परतन्त्र हू।

१६ अहिंसा का आदि-बिन्दु

मैं अपने आपको अपूर्ण मानता हू, फिर भी कोई व्यक्ति मेरी अपूर्णता की ओर इंगित करता है तो मेरी पूर्णता की आग प्रज्वलित हो उठती है। अपूर्णता की स्मृति क्षणभर के लिए लुप्त हो जाती है। मैं सोचता हू, ऐसा क्यो होता है? शायद इसीलिए होता है कि इंगित करने वाला मेरी पूर्णता को लक्ष्य करके ही मेरी अपूर्णता की ओर इंगित करता है। उसके मन मे एक चित्र मेरी पूर्णता का होता है और वह इंगित करता है मेरी अपूर्णता की ओर। वह मेरी अपूर्णता को लक्ष्य मे रखकर उसकी ओर इंगित करे तो मुझे अपनी अपूर्णता की विस्मृति का क्षण न देखना पडे।

अहिंसा मे मेरी आस्था है। यदा-कदा उसके प्रयोग भी करता हू। किन्तु हिंसा के चिर-संचित संस्कारो को चीरकर मैं अहिंसा की प्रतिष्ठा कर चुका हू, यह मैं मानू तो मेरा दम्भ होगा। मैं इतना ही मान सकता हू कि मैं अहिंसा की दिशा मे चल रहा हू। कब तक कहा पहुच पाऊँगा? यह प्रश्न केवल वर्तमान से ही जुडा होता तो मैं इसके उत्तर की रेखा खीच डालता किन्तु यह प्रश्न मेरे अतीत से भी जुडा हुआ है, इसलिए अहिंसा की दिशा मे चल रहा हू, इससे आगे कहने के लिए मेरे पास कुछ भी नही है।

मेरे प्रिय आलोचक! मैं इतना-सा तुम्हे बता सकता हू कि मैं रूढ नही हू। मैं प्रवहमान जल को स्वच्छ मानता हू और यह भी मानता हू कि गढे मे अवरुद्ध जल की स्वच्छता नष्ट हो जाती है।

'मैं जो हू, वही रहू और जैसा हू, वैसा ही रहू' इस मनोवृत्ति मे मेरी कोई आस्था नही है और इसलिए नही है कि इसमे मैं हिंसा की पौध को पनपते देखता हू।

'मैं अपूर्ण हू और पूर्ण होना चाहता हू' यही मेरी अहिंसा का आदि-बिन्दु है। अपूर्ण पूर्ण तभी होगा, जब जो है, वह नही रहेगा और जो नही है, वह होगा। यह है मेरा अपना आलोचन अपनी ही लेखनी द्वारा प्रस्तुत।

१७ अहिंसा का अर्थ

मैं अपने जीवन का सिंहावलोकन करता हू तब कल्पनालोक से उतर धरती पर आ जाता हू और कल्पना के पखो को छोड अपने पैरो से चलने लग जाता हू। मैं देखता हू, एक दिन मैंने सकल्प किया था, मैं अहिंसा का पालना करूगा। उस समय मेरे लिए अहिंसा का अर्थ था जीवो को न मारना। जहा जीव न मरे, वहा भी हिंसा हो सकती है, यह मेरे लिए अतर्कणीय था।

जीव-दया की अर्थ-गरिमा भी कम नही है। आत्मतुला के भाव की चरम परिणति मे अतुल आनन्दानुभूति होती है। समय-समय पर मुझे इसकी अनुभूति हुई है। मैं जैसे-जैसे बडा हुआ, सहधर्मियो की मनोभूमिका पर विहरने लगा, तब मुझे प्रतीत हुआ मेरी अहिंसा की समझ अधूरी है। अहिंसा की परिपूर्ण वेदिका के निर्माण के लिए मैं तडप उठा। मैंने समझा अहिंसा का अर्थ है, परिस्थिति के मर्म-भेदी परशु से मर्माहत न होना। इस कुशल जगत् मे ऐसा कोई भी प्राणी नही है, जो परिस्थिति के मृदु पुष्प से प्रमत्त और कठोर वज्र से आहत न हो। मुझे लगा जो व्यक्ति अपनी जीवन-धारा को परिस्थिति के प्रभाव-क्षेत्र की ओर प्रवाहित कर देता है, वह अहिंसा की अनुपालना नही कर सकता। परिस्थिति की मृदुता से आने वाली मूर्च्छा के साथ-साथ चेतना मूर्च्छित हो जाती है और उसकी कठोरता मे उपजने वाली कुण्ठा के साथ-साथ वह कुण्ठित हो जाती है।

अहिंसा चेतना की स्वतन्त्र दशा है। जो सर्दी से अभिभूत हो जाए, वह स्वतन्त्र नही हो सकती। जो गर्मी मे अभिभूत हो जाए, वह भी स्वतन्त्र नहीं हो सकती। स्वतन्त्र वह हो सकती है, जो किसी से अभिभूत न हो। अब मेरी अहिंसा का प्रकाश-स्तम्भ यही है। इसमे प्राणी-दया के प्रति मेरा मन पहले से अधिक सवेदनशील बना है। दूसरे की पीडा मे अपनी पीडा की तीव्र अनुभूति होने लगी है। यदि मैं परिस्थिति की कारा का बन्दी बना बैठा रहता तो दूसरो के प्रति निरन्तर सवेदनाशील नहीं रह पाता।

परिस्थिति निरन्तर एकरूप नहीं रहती। उसके प्रतिबिम्ब को स्वीकार करने वाली चेतना भी एकरूप नहीं रह सकती। कुछ लोग मुझे व्यवहार-कुशल मानते हैं तो कुछ लोग मानते हैं कि मैं व्यवहार-कुशल नहीं हूं। कुछ लोग मानते हैं, मैं आध्यात्मिक हूं तो कुछ लोग मानते हैं, यह मेरी सारी राजनीति है। अनेक तुलाएं हैं और अनेक मापदण्ड। मैं तुलनीय हूं, इसलिए तोला जाता हूं। मैं माप्य हूं, इसलिए मापा जाता हूं। यदि मैं तुलातीत और मापातीत होता तो मेरी अहिंसा प्रस्तर-जगत् की अहिंसा और मेरी शान्ति श्मशान की शान्ति होती। मेरी अहिंसा चेतना-जगत् की अहिंसा है और मेरी शान्ति तुमुल के मध्य में स्नात शान्ति है। इसका साक्ष्य यही है कि मैं दूसरों की तुला से तुलित अपने व्यक्तित्व का निरीक्षण-परीक्षण करता हूं पर मान्यता उसी व्यक्तित्व को देता हूं जो मेरी अपनी तुला से तुलित है। मेरे लिए मानदण्ड भी मेरा अपना है। इसमें मेरा अहं नहीं बोल रहा है। यह मेरे अस्तित्व का बोध है, जो किसी अपर सत्ता से प्रतिहत नहीं होता। यह अस्तित्व का अप्रतिघात ही मेरी आज की अहिंसा है।

अहिंसा मे विश्वास करने वाला हिंसा का प्रतिरोध और प्रतिकार उससे अप्रभावित होकर करता है—हिंसा की परिस्थिति को मान्यता न देते हुए करता है। हिंसा और अहिंसा परस्पर विजातीय है। इसीलिए अहिंसा मे हिंसा निरस्त हो जाती है, उसकी परम्परा समाप्त हो जाती है। अहिंसा की प्रतिरोध-शक्ति है स्वतन्त्र चेतना का अनावृतीकरण और उसकी प्रतिकार शक्ति है प्रेम का विस्तार और उतना विस्तार, जिसमे शून्य न हो, अप्रीति के लिए कोई अवकाश न हो।

मैं विमल दृष्टि से देखता हू यदि मैं परिस्थिति-परतन्त्र चेतना को मान्यता देकर चलता तो मेरा शक्ति-बीज अकुरित होने से पहले ही विलुप्त हो जाता।

मैंने न जाने कितनी बार इस सूत्र की पुनरावृत्ति की है—"वह पराजय को निमन्त्रण देता है, जो क्रिया से विमुख हो प्रतिक्रिया के सम्मुख चलता है।'

प्रेम का विस्तार, यह मेरी क्रिया है। इसमे मेरी चेतना का स्वतन्त्र कर्तृत्व है। इससे प्रतिहत होकर हिंसा अपनी मौत मर जाती है।

मैं हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करने लगू तो वह मेरी प्रतिक्रिया होगी। मेरे द्वारा नियन्त्रित नहीं किन्तु सम्मुखीन परिस्थिति द्वारा नियन्त्रित क्रिया होगी, यानी प्रतिक्रिया होगी।

इस प्रतिक्रिया से मुझे बल नही मिलता। किन्तु मेरा बल उसमे जाता है, जिसके प्रति मैं क्रिया करता हू। इसका अर्थ होता है, मेरी विरोधी परिस्थिति मेरे बल का सबल पाकर अपनी प्रहार-शक्ति को तीव्र बना लेती है। क्या मेरी मूर्खता का इससे अनुपम उदाहरण और कोई हो सकता है कि मैं अपनी शक्ति का दान उसके लिए करू, जो मुझे शक्ति-शून्य करना चाहती है? 'आत्म-विश्वास जितना शून्य होता है, उतना ही उसमे परिस्थिति को अवकाश मिलता है'—इस सूत्र ने मुझे जो आलोक दिया है, उससे मैं लाभान्वित हुआ हू और अमा की अंधियारी मे भी अपना पथ देख लेता हू।

मैं कई वर्षों से इस भावना के प्रति प्रयत्नशील हूं कि मेरे मन में अप्रियता की अनुभूति का स्रोत सूख जाए। वह स्रोत, जो मेरे भीतर प्रवाहित होकर मेरी सुखानुभूति के पौधे को पल्लवित नहीं करता, किंतु सुखाता है।

'अप्रियता की अनुभूति जिसके प्रति होती है वहां तक पहुंचे बिना ही वह लौटकर अपने उद्गम में आ जाती है और वहीं अपना काम करती है'—इस सत्य की अनुभूति मुझे जब से हुई है, तब से मैं मानता हूं कि मैंने अहिंसा-देवता को अपनी आस्था अर्पित की है।

मैं आज अन्तःकरण का उद्घाटन नहीं कर रहा हूं। मैं उस शाश्वत सत्य के आलोक में अपना अन्तःकरण पढ़ रहा हूं। सुख-दुःख की मनोग्रन्थियों से मुक्त वही है, जो सर्दी और गर्मी से प्रभावित नहीं है। बन्धन को तोड़ डालने में सक्षम वही है, जो परिस्थिति का प्रतिबिम्ब नहीं है।

बिम्ब और प्रतिबिम्ब का जगत् प्रतिक्रिया का जगत् है। उस जगत् का शब्दकोश स्वतन्त्रता जैसे शब्द से शून्य है। वहां न स्वतःस्फूर्त क्रिया है और न अपना कर्तृत्व, न अपनी शक्ति है और न अपना आनन्द। वहां जो कुछ है, वह है प्रतिबिम्ब और आभास, खेद और आयास, और तब तब जब तक हिंसा का रंगमंच आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बना हुआ है।

पर सृष्टि द्वन्द्व चाहती है, सबको एक होने देना नही चाहती, इसीलिए अनेक घुमाव और छिपाव है। जहा-जहा घुमाव और छिपाव हैं, वहा-वहा सन्देह है।

मैंने कई बार सोचा—कोई ऐसा दीप जलाऊ, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह अन्धकार ही उन्हे सदिग्ध किए हुए है। जब तक अन्धकार रहेगा, तब तक सन्देह निरस्त नही होगा। विश्वास प्रकाश मे उपजता है। इस सृष्टि को द्वन्द्व पसन्द है। इसीलिए वह प्रकाश के साथ-साथ अन्धकार को भी अवकाश देती है।

मैंने कई बार सोचा—इस हिमालय के उत्तुग शिखरो को तोड डालू, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सके। यह ऊचाई ही उन्हे सदिग्ध किए हुए है। जब तक ऊचाई रहेगी, तब तक सन्देह निरस्त नही होगा। विश्वास समतल मे उपजता है। इस सृष्टि को विषमता पसन्द है। इसीलिए उसने दो समतलो के बीच एक ऊचाई चिन रखी है।

मैंने कई बार सोचा—इस अनन्त जलराशि को सुखा दू, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सके। यह गहराई ही उन्हे सदिग्ध किए हुए है। जब तक गहराई रहेगी, तब तक सन्देह निरस्त नही होगा। विश्वास समतल मे उपजता है। इस सृष्टि को विषमता पसन्द है, इसीलिए उसने दो समतलो के बीच एक गहराई बिछा रखी है।

मैंने कई बार सोचा—इस प्रासाद-वास को छोड दू, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सके। यह दीवार का व्यवधान ही उन्हे सदिग्ध किए हुए है। जब तक व्यवधान रहेगा, तब तक सन्देह निरस्त नहीं होगा। विश्वास अव्यवधान मे उपजता है। इस सृष्टि को द्वन्द्व पसन्द है। इसीलिए यह प्रासाद-सृष्टि हुई है। यदि आकाश मुक्त ही होता तो सन्देह उपज ही नही पाता। जहा-जहा मनुष्य ने आकाश को बाधा है, वहा-वहा सन्देह को जन्म मिला है।

मैंने फिर सोचा—मैं कही पतवार-विहीन नौका की भाति कल्पना के अविराम प्रवाह मे बहा तो नही जा रहा हू?

मैं कई वर्षों से इस भावना के प्रति प्रयत्नशील हूं कि मेरे मन में अप्रियता की अनुभूति का स्रोत सूख जाए। वह स्रोत, जो मेरे भीतर प्रवाहित होकर मेरी सुखानुभूति के पौध को पल्लवित नहीं करता, किंतु सुखाता है।

'अप्रियता की अनुभूति जिसके प्रति होती है वहां तक पहुंचे बिना ही वह लौटकर अपने उद्गम में आ जाती है और वहीं अपना काम करती है'—इस सत्य की अनुभूति मुझे जब से हुई है, तब से मैं मानता हूं कि मैंने अहिंसा-देवता को अपनी आस्था अर्पित की है।

मैं आज अन्तःकरण का उद्घाटन नहीं कर रहा हूं। मैं उस शाश्वत सत्य के आलोक में अपना अन्तःकरण पढ़ रहा हूं। सुख-दुःख की मनोग्रन्थियों से मुक्त वही है, जो सर्दी और गर्मी से प्रभावित नहीं है। बन्धन को तोड़ डालने में सक्षम वही है, जो परिस्थिति का प्रतिबिम्ब नहीं है।

बिम्ब और प्रतिबिम्ब का जगत् प्रतिक्रिया का जगत् है। उस जगत् का शब्दकोश स्वतन्त्रता जैसे शब्द से शून्य है। वहां न स्वतःस्फूर्त क्रिया है और न अपना कर्तृत्व, न अपनी शक्ति है और न अपना आनन्द। वहां जो कुछ है, वह है प्रतिबिम्ब और आभास, खेद और आयास, और तब तक जब तक हिंसा का रंगमंच आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बना हुआ है।

१८ अहिंसा की अनुस्यूति

मैंने कई बार सोचा—अपने आपको अनावृत कर दूं, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात देख सकें। यह आवरण ही उन्हें संदिग्ध किए हुए है। जब तक आवरण रहेगा तब तक सन्देह निरस्त नहीं होगा। विश्वास अनावरण में उपजता है। इस सृष्टि का द्वन्द्व पसन्द है। इसीलिए इस पर्दे की सृष्टि हुई। यदि यह संसार सीधा सरल होता, कहीं कोई घुमाव या छिपाव नहीं होता तो सन्देह जन्म ही नहीं ले पाता।

पर सृष्टि द्वन्द्व चाहती है, सबको एक होने देना नही चाहती, इसीलिए अनेक घुमाव और छिपाव हैं। जहा-जहा घुमाव और छिपाव हैं, वहा-वहा सन्देह है।

मैंने कई बार सोचा—कोई ऐसा दीप जलाऊ, जिसमे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह अन्धकार ही उन्हे सदिग्ध किए हुए है। जब तक अधकार रहेगा, तब तक सन्देह निरस्त नही होगा। विश्वास प्रकाश मे उपजता है। इस सृष्टि को द्वन्द्व पसन्द है। इसीलिए वह प्रकाश के साथ-साथ अन्धकार को भी अवकाश देती है।

मैंने कई बार सोचा—इस हिमालय के उत्तुग शिखरो को तोड डालू, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह ऊचाई ही उन्हे सदिग्ध किए हुए है। जब तक ऊचाई रहेगी, तब तक सन्देह निरस्त नहीं होगा। विश्वास समतल मे उपजता है। इस सृष्टि को विषमता पसन्द है। इसीलिए उसने दो समतलो के बीच एक ऊचाई चिन रखी है।

मैंने कई बार सोचा—इस अनन्त जलराशि को सुखा दू, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह गहराई ही उन्हे सदिग्ध किए हुए है। जब तक गहराई रहेगी, तब तक सन्देह निरस्त नही होगा। विश्वास समतल मे उपजता है। इस सृष्टि को विषमता पसन्द है, इसीलिए उसने दो समतलो के बीच एक गहराई बिछा रखी है।

मैंने कई बार सोचा—इस प्रासाद-वास को छोड दू, जिससे मेरे साथी मुझे साक्षात् देख सकें। यह दीवार का व्यवधान ही उन्हें सदिग्ध किए हुए है। जब तक व्यवधान रहेगा, तब तक सन्देह निरस्त नहीं होगा। विश्वास अव्यवधान मे उपजता है। इस सृष्टि को द्वन्द्व पसन्द है। इसीलिए यह प्रासाद-सृष्टि हुई है। यदि आकाश मुक्त ही होता तो सन्देह उपज ही नही पाता। जहा-जहा मनुष्य ने आकाश को बाधा है, वहा-वहा सन्देह को जन्म मिला है।

मैंने फिर सोचा—मैं कही पतवार-विहीन नौका की भाति कल्पना के अविराम प्रवाह मे बहा तो नही जा रहा हू ?

मैंने फिर सोचा—मैं कहीं चक्रवात में उलझे हुए पक्षी की भांति अनन्त आकाश में उड़ा तो नहीं जा रहा हूं?

क्या मेरी नौका को कोई तट प्राप्त है? क्या मेरे पक्षी का कोई धरातल है? क्या अनावरण, प्रकाश, अन्तर्धान और समतल वास्तविक हैं? व्यावहारिक हैं? क्या इन कठपुतलियों के लिए ये सम्भाव्य हैं?

एक के बाद एक प्रश्न मेरे मन में उठता रहा और मेरे साथियों के असंख्य स्वर एक साथ मेरे कानों में गूंजते रहे—ये अवास्तविक हैं, अव्यावहारिक हैं और असम्भाव्य हैं—इन कठपुतलियों के लिए, जो चालित हैं, किन्तु स्वयं के द्वारा नहीं।

वे स्वर बहुत मीठे थे। पर न जाने क्या हुआ, वे मुझे नहीं मोह सके। साँप-काटे को नीम मीठा लगता है। यह विपर्यय है पर मिथ्या नहीं है। मैं सर्प-दष्ट नहीं था, यह कैसे कहूं? जिसमें हिंसा का एक संस्कार भी शेष है, जिसके चैतसिक दर्पण में धुंधला-सा प्रतिबिम्ब भी अंकित है, वह विष-विमुक्त नहीं है और उसे नीम मीठा लगना ही चाहिए। शेष दुनिया को जो कड़वा लगे, वह विष-व्यथित को मीठा न लगे तो समझना चाहिए, उसकी चेतना मूर्च्छित हो चुकी है। वह असाध्य अवस्था तक पहुंच चुका है।

दुनिया को कड़वे लगने वाले अध्यात्म के स्वर मुझे मीठे लगे, तब मैंने सोचा मुझमें ज़हर है। मिठास की अनुभूति ने मुझे आश्वस्त भी किया कि मैं असाध्य रोगी नहीं हूं।

मेरे चिकित्सक ने किसी को असाध्य माना ही नहीं था। उसका ध्वनि-निर्घोष है—

यह मेरी दवा उन सबके लिए है जो विष की वेदना से व्यथित हैं, भले फिर वे—

जागृत हों या निद्रा-लीन
स्फूर्त हों या अलस
गतिशील हों या स्थितिशील
शोथ-युक्त हों या शोथ-मुक्त

आवद्ध हो या निबन्ध।

मेरे चिकित्सक ने मुझे इतना प्रभावित कर दिया कि मैं अपने साथियो को सन्तोष नहीं दे सका। मैं जैसे-जैसे विषमुक्त होता जा रहा हू, वैसे-वैसे मेरी मान्यताए प्रश्नचिह्न बनती जा रही हैं।

मैंने मान रखा था—चीनी मीठी है, नीम कडवा है। आज वह प्रश्न-चिह्न बन गया है—क्या चीनी मीठी है ? क्या नीम कडवा है ?

मैंने मान रखा था—अग्नि गर्म है, बर्फ ठण्डी है। आज वह प्रश्नचिह्न बन गई है—क्या अग्नि गर्म है ? क्या बर्फ ठण्डी है ?

मैंने मान रखा था—यह अन्धकार है, यह प्रकाश है। किन्तु किसी अज्ञात से प्रश्नचिह्न उभर रहा है—क्या अन्धकार अन्धकार ही है ? क्या प्रकाश प्रकाश ही है ?

इन प्रश्नचिह्नों ने मेरा मन आन्दोलित कर दिया। मेरी मूर्च्छित चेतना जाग उठी। अब मैं देखता हू, सुनता नही हू, अब मैं जानता हू, मानता नही हू। मैं देख रहा हू और साक्षात् देख रहा हू—स्वार्थ की समरेखा मे सब सबके लिए मधुर हैं और स्वार्थ की विषम रेखा मे सब सबके लिए कटु हैं। कोई किसी के लिए नितान्त मधुर नही है और कोई किसी के लिए नितान्त कटु नहीं है। जो मधुर है वह कटु भी है और जो कटु है, वह मधुर भी है।

मैं देख रहा हू और साक्षात् देख रहा हू—शक्ति-शून्य सत्ता के सम्मुख सब गर्म हैं और शक्ति-सम्पन्न सत्ता के सम्मुख सब ठण्डे हैं। कोई किसी के लिए नितान्त गर्म नहीं है और कोई किसी के लिए नितान्त ठण्डा नही है। जो गर्म है, वह ठण्डा भी है और जो ठण्डा है, वह गर्म भी है।

मैं देख रहा हू और साक्षात् देख रहा हू, जो दृष्टि से विपन्न है, उसके लिए बहु ओर अन्धकार ही अन्धकार है और जो दृष्टि से सम्पन्न है, उसके लिए बहु ओर प्रकाश ही प्रकाश है। नितान्त अन्धकार जैसा भी कुछ नही है और नितान्त प्रकाश जैसा भी कुछ नही है। जो अन्धकार है, वह प्रकाश भी है और जो प्रकाश है, वह अन्धकार भी है। इस अहिंसा की अनुभूति ने

मुझे उस संदर्भ तक पहुंचा दिया—जो आने का मार्ग है, वही जाने का मार्ग है, और जो जाने का मार्ग है, वही आने का मार्ग है।

इसी सत्य की अनुभूति से अनुप्राणित हो, एक बार मैंने लिखा था—जो आरोहण के सोपान हैं, वे ही अवरोहण के सोपान हैं और जो अवरोहण के सोपान हैं, वे ही आरोहण के सोपान हैं। आरोहण और अवरोहण के सोपान दो नहीं हैं।

१९ सापेक्ष सत्य

मेरी आंखों के सामने एक वृद्ध का चित्र उभर रहा है। वह अपने यौवन में बहुत स्वस्थ और सुन्दर रहा है। उसमें जितनी कर्मजा शक्ति थी, उतना ही वह कर्म कुशल था। वह चर्म-चक्षुओं और कर्म-चक्षुओं दोनों के लिए आकर्षण-केन्द्र था। अब वह वृद्ध हो गया है। उसका सुन्दर शरीर वलि-सवलित हो गया है। उसकी सघन केशराशि पलित हो गई है। उसका स्वस्थ शरीर रुग्ण हो गया है। अब वह चर्म-चक्षुओं का आकर्षण-केन्द्र नहीं है। उसके ज्ञानेन्द्रिय शिथिल हो चुके हैं और कर्मेन्द्रिय शक्ति-हीन। अब वह कर्मकुशल नहीं है, और कर्म-चक्षुओं का आकर्षण-केन्द्र भी नहीं है। वह अतीत की स्थिति का स्मरण कर दुःख का संवेदन कर रहा है। यह दुःख वर्तमान में है, किन्तु वर्तमान की स्थिति से प्राप्त नहीं है। वह अतीत के संदर्भ में वर्तमान की स्थिति में प्राप्त है। यदि वह अतीत में स्वस्थ और सुन्दर नहीं होता, यदि वह अतीत में कर्मठ और कर्म-कुशल नहीं होता और जनता के लिए आकर्षण-केन्द्र नहीं होता तो वह इतना दुखी नहीं होता।

यदि अतीत और वर्तमान की स्मृति-शृंखला उसमें नहीं होती, मैं वही हूं—यह प्रत्यभिज्ञा नहीं होती तो वह दुखी नहीं होता।

मैं जिस पर्याय में आकर्षण-केन्द्र था, वह पर्याय सम्पन्न हो चुका है।

मैं अभी जिस पर्याय मे हू, वह अभिनव पर्याय उत्पन्न हुआ है। उसमे आकर्षण-केन्द्र बनने की क्षमता नही है। इस प्रकार वस्तुगत एकता मे अवस्थागत भिन्नता का सम्यक् सवेदन होता तो वह दुखी नही होता।

यदि उसका ज्ञान और दर्शन सम्यक् होता तो वह दुखी नही होता।

यह अतीत से आवृत वर्तमान भगवान महावीर का नैगम नय है।

एक किसान ने अपनी पत्नी से कहा—'मै भैंस ला रहा हू।' वह बोली—'भले लाओ पर दूध की मलाई अपनी मा को खिलाऊगी।' किसान बोला—'यह कैसे हो सकता है? भैंस मैं लाऊ और मलाई खाए तुम्हारी मा!' इस बात पर विवाद बढ गया। दोनो लड पडे।

पडोसी आया। लाठी को घुमा घडे फोड डाले। किसान गुनगुनाया तो वह बोला—'तेरी भैंस मेरा खेत चर गई।' किसान ने कहा—'मेरे घर भैंस है ही नही, फिर तुम्हारा खेत कहा से चर गई?' पडोसी बोला—'अभी भैंस ही नही है तो फिर मलाई की लडाई कैसी?'

यह भविष्य से प्रभावित वर्तमान है और नैगम नय का एक चरण।

जब मैं पदार्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया को देखता हू तो मुझे दिखाई देता है सघटन और विघटन का लीलाचक्र। सिन्धु और क्या है? बिन्दु-बिन्दु का सघटन। बिन्दु और क्या है? सिन्धु का विघटन। सघटन मे विस्तार है। उसकी अपनी उपयोगिता है। जल-पोत बिन्दु पर नही तैर सकते। विघटन मे सक्षेप है। उसकी अपनी उपयोगिता है। चिडिया की चोच मे सिन्धु नही समा सकता। इसीलिए सिन्धु भी सत्य है और बिन्दु भी सत्य है।

कपडे का अपना उपयोग है। वह सर्दी से, धूप से बचाता है। धागे का अपना उपयोग है। वह दो को साधता है। पर साधने मे कपडे का और सर्दी से बचाने मे धागे का कोई उपयोग नही है। इसीलिए कपडा भी सत्य है और धागा भी सत्य है। इन दो सापेक्ष सत्यो की स्वीकृति महावीर का सग्रह और व्यवहार-नय है।

मेरी दृष्टि के सामने एक उपवन है। उसमे पचासो गुलाब के पौधे

है—आकर्षक और मनोरम। उनके बहुरंगी फूल बड़े लुभावने हैं। उनसे सौरभ फूट रही है। उपवन में आने वाला हर व्यक्ति उन्हें ललचाई आंखों से देखता है।

मैं कुछ वर्षों बाद देखता हूं, वह उपवन उजड़ रहा है। माली की उंगलियां जल-सेक से विरत हो गई हैं। पौधे सूख गए हैं। उस ओर आने वाला हर व्यक्ति उन्हें दया की दृष्टि से देखता है।

गुलाब के पौधों का अतीत का वैभव असत् हो गया है। अब सत् है उनका भग्न। यह वर्तमान सत्य महावीर का ऋजुसूत्र नय है।

एक सगोष्ठी हो रही थी। एक प्रवचनकार शास्त्र का निरसन कर रहे थे। मैंने मन ही मन सोचा, शास्त्र का समर्थन भी शास्त्र के द्वारा होता है और शास्त्र का निरसन भी शास्त्र के द्वारा होता है। यदि शब्दात्मक ज्ञान नहीं होता तो कौन किसका समर्थन करता और कौन किसका निरसन? क्या प्रवचनकार शब्द का सहारा लिए बिना शास्त्र का निरसन कर सकते थे? वस्तुत वे शास्त्र का निरसन नहीं कर रहे थे, किन्तु प्राचीन शास्त्र पर अपने शास्त्र का समारोपण कर रहे थे। यह समारोपण एकांगी दृष्टि से होता है। काल-परिवर्तन के साथ ध्वनि के अर्थ-परिवर्तन को मान्यता दी जाए तो शास्त्र में निरसन जैसा क्या बचेगा? दिल्ली एक शब्द है। वह दिल्ली नामक भूखण्ड का वाचक है। दिल्ली थी, दिल्ली है और दिल्ली रहेगी—इन तीनों शब्दों का अर्थ एक नहीं है। अंग्रेजी की दिल्ली से कांग्रेसी-शासन की दिल्ली भिन्न है और किसी भावी शासन की दिल्ली कांग्रेसी-शासन की दिल्ली से भिन्न होगी। सूक्ष्म का स्पर्श करें तो कल की दिल्ली से आज की दिल्ली भिन्न है और आज की दिल्ली से कल की दिल्ली भिन्न होगी।

यह काल-बोध से प्रभावित होने वाला शब्द का अर्थबोध महावीर का शब्द-नय है।

आज हम आचार्य तुलसी के साथ मण्डोर के उद्यान में परिव्रजन कर रहे थे। सामने पहाड़ की चढ़ाई थी, सीढ़ियां बनी हुई थीं। आचार्यश्री के

सीढिया चढते-चढते कहा—'यह तो उद्यान है।

मेरी स्मृति तत्काल उस अर्थ-मज्ञा मे अभिभूत हो गई कि उद्यान का वाच्य है, ऊर्ध्व-भूमि पर बना हुआ उपवन। वाच्य और वाचक का परस्पर गहरा अनुबन्ध है। ऐसा कोई भी वाच्य नही है, जिसका दो वाचको द्वारा प्रतिवचन किया जा सके। निरुक्ति की भिन्नता के साथ-साथ अथ की भिन्नता आ जाती है। यह महावीर का ममभिरूढ नय है।

एक राज्याधिकारी दो दीप जलाते थे। एक सरकारी तेल से और एक अपने तेल से। जब वे सरकारी काम करते तब राजकीय तेल से दीप जलाते थे और जब घरेलू काम करते तब अपने तेल से दीप जलाते थे। इसी प्रकार की कई घटनाए और प्राप्त होती हैं। एक राज्याधिकारी जब सरकारी काम के लिए जाते हैं तब राजकीय मोटर कार का उपयोग करते हैं और जब घरेलू काम के लिए जाते हैं, तब उसका उपयोग नही करते, बस मे बैठकर चले जाते हैं क्योकि उस ममय वे राज्याधिकारी नही होते। वे राज्याधिकारी उसी क्षण होते हैं, जिस क्षण राज्याधिकार का काय कर रहे होते हैं। यह महावीर का एवम्भूत नय है।

हम सापेक्ष मत्यो के जगत् मे जीते हैं, इसलिए उनकी व्याख्या हमारे लिए अधिक मूल्यवान है। उसका मूल्याकन कर हम अनेक समस्याओ से मुक्ति पा सकते हैं। सब समस्याओ का स्रोत है आग्रह का मरोहण। आग्रह असत्य को जन्म देता है और असत्य समस्याओ को। सापेक्ष दृष्टि का प्रतिपादन भारतीय विचारधारा को महावीर की बहुत बडी देन है। इससे अनाग्रह का विकास होता है। अनाग्रह मे सत्य का स्पश और सत्य के स्पश से ममस्याओ का समाधान।

धर्म-क्रान्ति

१ धर्म एक कल्पनाएं तीन

मेरे सामने एक चित्र उभर रहा है। उसके तीन पहलू हैं। पहला—एक आदमी धार्मिक क्रियाकाण्ड कर रहा था। मैंने पूछा—यह किसलिए करते हो, भैया? उसने सहज मुद्रा मे उत्तर दिया—इससे परलोक सुधरेगा।

दूसरा—एक आदमी व्यापार करता था। उसने अनेक प्रयत्न किए पर वह सफल नही हुआ। वह निराश हो गया। उसने सारा समय धार्मिक क्रियाकाण्ड मे लगाना शुरू कर दिया। एक दिन मैंने पूछा—तुम तो बहुत समय लगाते हो, इस क्रियाकाण्ड मे? वह बोला—पिछले जन्म मे बुरे कर्म किए थे, इसलिए यहा दुख पा रहा हू। यहा कुछ कर लू जिससे अगला जन्म सुधर जाए, वहा इतना दुख न भुगतना पडे।

तीसरा—एक आदमी बहुत झगडालू था। जितना झगडालू उतना ही धर्म-प्रेमी। धर्म-प्रेम और कलह दोनो एक साथ कैसे हो सकते हैं, यह मैं नही समझ सका। पर वह अपने को धर्म-प्रेमी मानता था और दूसरे लोग भी उसे धर्म-प्रेमी कहते थे। मैंने एक दिन कहा—तुम दिनभर लडते-झगडते हो, फिर धर्म करने का क्या अर्थ होगा? वह बोला—महाराज! लडने की तो आदत पड गई। वह अब कैसे छूटे? यह जीवन तो अब जैसा है वैसा ही रहेगा। अच्छा है धर्म करने से परलोक सुधर जाए।

तीनो पहलुओ का समग्र चित्र जो उभरता है, उसका आकार यह है कि धार्मिक लोगो को परलोक सुधारने की जितनी चिन्ता है, उतनी इहलोक सुधारने की नही है। उनमे परलोक को सुखमय बनाने की जितनी

धुन है, उतनी इहलोक को सुखमय बनाने की नही है। यह अकारण भी नही। उनकी मान्यता है कि इस जीवन मे जो बुरा कर्म हो रहा है, उसका कोई उपाय नही। वह तो पिछले जन्म म किए हुए बुरे कर्मों का फल है। इस जीवन म जितना अच्छा कर्म करेंगे, उतना ही अगला जीवन अच्छा होगा।

उनके अच्छे जीवन की कल्पना है—पास मे खूब धन हो, अच्छा मकान हो, अच्छा परिवार हो, नौकर-चाकर हो तथा सुख-सुविधा के सब साधन उपलब्ध हो। अप्रामाणिकता, झूठ, विश्वासघात आदि उनके अच्छे जीवन की कल्पना मे बाधक नही है। वे सन्यासी नही हैं। उन्हे व्यापार कर जीविका चलाना है। क्या प्रामाणिकता सचाई आदि से जीविका चलाई जा सकती है? ये तक उनके व्यवहार को कभी विशुद्ध नही होने देते। उनकी धर्म की कल्पना को मैं एक घटना के द्वारा स्पष्ट करू। एक दिन गोष्ठी मे एक नया चेहरा दिखाई दिया। उपस्थित गोष्ठी-सदस्यो ने जिज्ञासा के साथ पूछा—तुम्हारे जीवन की विशेषता क्या है? वह बोला—मेरे जीवन की विशेषता यह है कि मैं धर्म को कभी नही छोडता। सबने उसकी ओर आश्चर्यभरी दृष्टि से देखा तो उसका उत्साह आगे बढा। वह बोला—'मैंने जरूरत पडने पर शराब पी ली, जुआ खेल लिया, पर धर्म को नही छोडा। भूख की समस्या बडी जटिल है, उसके लिए कभी-कभी चोरी भी की और डाका भी डाला पर धर्म नही छोडा। मन की दुर्बलता हर आदमी मे होती है। उसके वशीभूत हो वेश्यागमन भी कर गया पर धर्म नही छोडा। कभी-कभी क्रोध के वश मे आ खून भी कर डाला पर धर्म नही छोडा।' वह आख मूदकर अपनी प्रशसा के गीत गाता ही चला गया। एक सदस्य ने ससम्मान पूछा—'तो महाशय! आपका धर्म क्या है?' वह गर्व की भाषा मे बोला—'मैंने अछूत के हाथ का नही खाया। हजार कठिनाइया सही, सब कुछ किया पर धर्म पर अडिग रहा।'

ऐसी अनेक घटनाए हैं और अनेक कहानिया। लोक-मानस मे धर्म का जो चित्र है, उसे वे हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। ऐसे धर्म-चित्र से

तृप्ति न हो, ऐसे लोग भी कम नही हैं। मनुष्य अपने आवेगो के उभार मे रसानुभूति करता है। उसने धम-क्षेत्र को भी उससे अछूता नही छोडा है। धर्म का स्वरूप है आवेगो का उपशमन। पर क्या ऐसा धर्म आचरण मे रहा है?

अपने आपको धार्मिक मानने वाले व्यक्ति मे भी भय, शोक, घृणा और विकार उतना ही है, जितना किसी अधार्मिक मे है। 'सब जीव समान हैं' के व्याख्याता भेदभाव से भरपूर और 'सब जीव एक ही ब्रह्म की सन्तति हैं' के व्याख्याता क्रूर हो तो सहज ही यह धारणा बन जाती है कि दर्शन का क्षत्र बुद्धि और व्याख्या ही है।

मैं नही समझ सका—आत्मा है, वह पुनर्भवी है, वह कम का कर्ता और भोक्ता है, अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे का बुरा होता है, इस धारणा मे विश्वास रखने वाला भी बुरा कर्म करते हुए सकोच नही करता, तब आस्तिक और नास्तिक की भेद-रेखा क्या है?

२ धर्म और सस्थागत धर्म

कुछ लोगो का मत है कि धर्म मनुष्य के लिए सदा उपयोगी है, क्योकि वह शाश्वत है। कुछ लोग उसे अनुपयोगी मानते हैं। उनका मानना है कि वह अब पुराना हो गया है, उस पर आवरण आ गए हैं, अब उससे चिपके रहना उचित नही है। क्या हम इस अभिमत को अपना समथन दें कि धम की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है? अथवा इस अभिमत की पुष्टि करें कि वतमान परिस्थिति मे धम हमारे लिए उपयोगी है?

इस प्रश्न पर जब मैं चिन्तन करता हू तब मेरे सामने धम के दो रूप उभर आते हैं—एक सस्थागत धर्म और दूसरा धम। धम आकाश की तरह अनन्त, असीम और उन्मुक्त है। उसे जब छोटी-छोटी सीमाओ मे बाध दिया जाता है, तब वह सस्थागत धर्म (सम्प्रदाय धम) हो जाता है।

मुक्त आकाश पर किसी का अधिकार नही होता और ममत्व भी नही होता। परन्तु उसी आकाश को जब हम कमरो मे बाध लेते है, भवन का आकार दे देते हैं, तब उस पर हमारा अधिकार और ममत्व हो जाता है। मुक्त आकाश की शरण मे सब जा सकते हैं किन्तु कमरो मे बधे हुए आकाश में सब नही आ-जा सकते। वहा प्रवेश निषिद्ध किया जा सकता है। धर्म की स्थिति भी ठीक यही हुई है। वह असीम सत्य है। सबके लिए ग्राह्य और सबके द्वारा अनुमोदित। परन्तु उसे कमरो मे बाधकर, भवन का आकार देकर सीमित कर दिया गया है। इसीलिए धर्म का द्वार सबके लिए खुला नही है। बद दरवाजे वाला धर्म सीमाबद्ध हो जाता है। जैसे—हिन्दू-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म आदि-आदि। इन सस्थागत धर्मों के आस-पास अनगिन रेखाए खिच जाती हैं और बाडे बन जाते है। मनुष्य बट जाता है। मेरे धर्म का आदर करे, पालन करे वह आदमी है और जो मेरे धर्म का स्वागत नही करता, वह आदमी नही है, ऐसी धारणाए रूढ हो जाती है। इसीलिए सस्थागत धर्म के द्वारा जनता का बहुत भला नही हुआ, और न ही हो पा रहा है। कुछ लोगो ने इस सस्थागत धर्म की निष्पत्तियो के आधार पर धर्म को अनावश्यक ठहराने का प्रयत्न किया है। जीवन की प्राथमिक अपेक्षाओ की पूर्ति मे बाधक मान मानसिक मानचित्र से उसे लुप्त करने का प्रयत्न किया है। क्या यह सही चरण है ? मैं सही और गलत की लम्बी चर्चा मे नही जाऊगा। मैं सक्षेप का प्रेमी हू, इसलिए सक्षेप मे इतना ही कहूगा कि रोटी, कपडा और मकान—ये जीवन की प्राथमिक आवश्यकताए हैं। इनकी पूर्ति मे मनुष्य के पुरुषार्थ की कृतकृत्यता नही है। उसकी कृतकृत्यता सत्य की खोज और सत्य की उपासना मे है। मनुष्य साधारणत श्रद्धालु होता है। यह अच्छा है किन्तु उसे शल्य-चिकित्सक भी होना चाहिए। शरीर मे श्रद्धा होने का यह अर्थ नही कि उसमे हुए फोडे की शल्य-चिकित्सा न की जाए। श्रद्धा और शल्य-चिकित्सा दोनो समन्वित रहते तो धर्म का शरीर अस्वस्थ नही होता।

धर्म की आत्मा विस्मृत क्यो हुई ? धर्म का शरीर अस्वस्थ क्यो

हुआ ? इन प्रश्नो की गहराई मे जाने पर मुझे प्रतीत होता है कि शास्त्राव-लम्बी श्रद्धा से धम की आत्मा विस्मृत हुई है और शल्य-चिकित्सा से वियुक्त श्रद्धा मे धर्म का शरीर अस्वस्थ हुआ है।

आज हर धार्मिक शास्त्रो को दुहाई देता है। कोई गीता की, कोई आगमो की, कोई पिटको की, कोई कुरान की और कोई बाइबिल की। क्या धार्मिक इस चिन्तन मे व्यापृत नही होते कि हजारो वष पहले निर्मित शास्त्रो मे जो लिखा है, वह सब ठीक है ? क्या हम उसे ठीक-ठीक समझ रहे हैं ? क्या हमने उन सत्यो का अनुभव किया है, साक्षात किया है ?

जिस सत्य का हमने अनुभव नही किया, साक्षात् नहीं किया, प्रयोग नही किया, क्या उस सत्य की सरिता अनुभव ऊचाई से प्रवाहित हो सकती है ? कवि की कल्पनाओ को काव्य की भाषा मे दुहराने से हमारा काम चल सकता है पर अध्यात्म के सत्यो को शास्त्र की भाषा मे दुहराने से काम नही चल सकता। सोमरस-पान का यशोगान करने वाला शास्त्र की गरिमा नही बढा सकता। कलह और लडाई की धूनी रमाने वाला अहिंसा के गीत गाकर उससे लाभान्वित नही हो सकता। मैं कई बार कुछ लोगो से पूछ लेता हू— अहिंसा अच्छी है, अपरिग्रह अच्छा है, इसका तुम्हे कोई अनुभव है ?' उत्तर मिलता है, अनुभव तो नही है।' 'तो फिर तुम कैसे कहते हो कि अहिंसा अच्छी है, अपरिग्रह अच्छा है ?' तत्काल उत्तर मिल जाता है 'अमुक शास्त्र मे लिखा है इसलिए हम कहते हैं।' तब मैं सोचता हू इन्ही धार्मिको के कारण धम निस्तेज बना है, अहिंसा और अपरिग्रह की गरिमा कम हुई है। जब-जब शास्त्रीय वाक्यो की दुहाई बढती है और आत्मानुभूति घटती है तब शास्त्र तेजस्वी और धम निस्तेज हो जाता है। जब आत्मानुभूति बढती है और शास्त्रीय वाक्यो की दुहाई घटती है तब धम तेजस्वी और शास्त्र निस्तेज हो जाता है। धम की प्रतिष्ठा चाहने वाले क्या आज कुछ नये सत्य का उद्घाटन कर रहे हैं ? कोई नया तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं ? आज का युग वैज्ञानिक युग है। आज का युग बौद्धिक और तार्किक युग है। इस युग मे अतीत के अन्धकार और भविष्य के गह्वर

मे विश्वास करने वाले लोग कम होंगे। वतमान मे विश्वाम करने वालो की मस्या अधिक हागी। इसलिए धर्म को वर्तमान की कसौटी पर कसकर ही प्रस्तुत करना होगा।

आज का युग व्यक्तिवादी युग नही ह। यह समाजवाद का युग है। जीवन के सामुदायिक प्रयोग विकसित हो रहे है। पहले लोग छोटे-छोट गावो मे रहते थे। आज कलकत्ता और बम्बई जैसे विशाल नगर बन गए ह। पहले लोग व्यक्तिगत सवारी—ऊट, घोडो की—करते थे। आज रेल आदि की सामूहिक सवारी होती है। सामूहिक व्यापार, सामूहिक कृषि और सामूहिक भवन इस प्रकार वैयक्तिकता सामूहिकता मे बदल रही है॥ आज के लोग धर्म को भी व्यक्तिवादी देखना नही चाहते। मैं आपसे कहना चाहता हू कि धर्म व्यक्तिनिष्ठ होते हुए भी सामुदायिक है, सामाजिक है। साधना की दृष्टि मे वह व्यक्तिनिष्ठ है किन्तु परिणाम की दृष्टि से वह सामाजिक है। धर्म व्यक्ति को लाभान्वित करने के साथ-साथ समाज को भी लाभान्वित करता है। व्यक्तिगत व्यवहार मे धर्म की अपेक्षा रखने वाले और सामाजिक व्यवहार मे धर्म की उपेक्षा करने वाले लोग जाने-अनजाने ऐसा चाहते हैं कि उनकी उपासना का परिणाम उन्हे मिले और उनकी अप्रामाणिकता का परिणाम समूचे समाज को मिले। यह कितना हास्यास्पद है! धम की भूमिका यह होनी चाहिए कि अपनी बुराई को व्यक्ति स्वय मे समेटे और अपनी अच्छाई को समाज मे फैलाए। व्यक्ति की उपासना स समाज का सीधा सम्बन्ध नही होता। उसका सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के आचरण मे होता है। जिसके जीवन मे धम है, उसके जीवन मे असदाचार का प्रवाह नही निकल सकता। जल की धारा से अग्नि का स्फुलिंग नही उछल सकता। एक धार्मिक के जीवन से असदा-चार का प्रवाह फूटे तो क्या उससे दूसरे लोगो मे धर्म की आस्था का अकुर फूटगा?

चिन्तन की इस पृष्ठभूमि पर आप धर्म का मूल्य आकें। आज यदि धर्म के अस्तित्व को बनाए रखना ह, उसे आकर्षण क [illegible] द्र बनाना है तो

३ धर्म की आत्मा—एकत्व या समत्व

मैं देखता हूं एक ओर हमारे सामने विराट् विश्व है और दूसरी ओर बहुत छोटा-सा व्यक्ति। आज का बहुत सारा चिन्तन विराट् की ओर जा रहा है, सामुदायिकता की परिक्रमा कर रहा है। जो भी सोचा जाता है, वह व्यापक स्तर पर सोचा जाता है। परन्तु ऐसा होने पर भी समस्या कम नहीं हुई है। मैं देखता हूं कि जितनी समस्याएं विराट्-विश्व की हैं, उतनी ही एक व्यक्ति की है। जो पिण्ड में है, वह ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है, वह पिण्ड में है—इसकी सचाई में सन्देह करने का कोई कारण मुझे नहीं लगा। हम कोरी सामुदायिक चिन्ता या कोरी व्यक्ति-चिन्ता कर एकांगी हो जाते हैं और यह एकांगिता की बीमारी आज सर्वत्र व्याप्त है। सर्वांगीण दृष्टिकोण यह हो सकता है कि हम समुदाय की चिन्ता करते समय व्यक्ति को विस्मृत न करें और व्यक्ति-चिन्ता के समय समुदाय की स्मृति बनाए रखें।

भगवान् महावीर का एक सिद्धान्त है—'जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वही एक को जानता है।' हमें समस्याओं का समाधान इसीलिए नहीं मिल रहा है कि हम एक को भी नहीं जानते। एक परमाणु को जानने के लिए अन्य सभी वस्तुओं को जान लेना अनिवार्य हो जाता है। परमाणु में भिन्न सभी वस्तुओं से उसके सादृश्य-असादृश्य तथा सम्बन्ध-असम्बन्ध का ज्ञान किए बिना परमाणु का पूरा ज्ञान हो नहीं सकता। इसीलिए एक परमाणु के विश्लेषण में सृष्टि के असंख्य नियम जान लिए जाते हैं।

आज हमारा ध्यान विस्तार पर अटक गया है। संक्षेप को जानने की रुचि हममें नहीं है। उपनिषदों में कहा गया है—जो नानात्व को देखता है, वह मौत से भी भयंकर स्थिति की ओर जा रहा है। एक को यानी व्यक्ति को जाने बिना नानात्व को यानी समाज को जानने की बात सचमुच भयंकर होती है।

व्यक्ति की समस्याओं के तीन वर्ग हैं—(१) शारीरिक, (२) सामाजिक, (३) मानसिक और आत्मिक। शारीरिक समस्याओं—जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं—की पूर्ति के लिए सभ्यता के आदिकाल में ही अर्थसत्ता का अस्तित्व उदय में आया।

अर्थसत्ता के आगमन के साथ एक दूसरी समस्या खड़ी हो गई। लूट-खसोट, छीनाझपटी शुरू हुई। सबल निर्बल को आतंकित करने लगे। इस सामाजिक समस्या को सुलझाने के लिए राज्यसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ।

अर्थसत्ता से उत्पन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए राज्यसत्ता पनपी किन्तु वह भी पवित्र न रह सकी। राज्यसत्ता की उच्छृंखलता पर अंकुश लगाने के लिए नैतिक सत्ता या धर्मसत्ता की अपेक्षा हुई। धर्मसत्ता के आविर्भाव का एक कारण व्यक्ति के अन्तर् की आकुलता भी है।

इन सत्ताओं का प्रादुर्भाव होने पर भी व्यक्ति की समस्याएं सुलझी नहीं। व्यक्ति आज भी गरीब है, अभाव से ग्रस्त है। वह सामाजिक सह-योग से आज भी वंचित है। उसकी चेतना आज भी कुण्ठित है। इसका हेतु क्या है? मेरी समझ में हेतु अस्पष्ट नहीं है। व्यक्ति के समाधान के लिए जिन सत्ताओं के गले में वरमाला डाली थी, वे स्वयं समस्या बन गई हैं। मुझे एक पौराणिक कहानी याद आ रही है। एक चूहे ने तपस्या कर शंकर से वरदान प्राप्त किया और वह बिल्ली बन गया। वह बिल्ली के डर से बिल्ली बना पर कुत्ते का डर अब भी बना हुआ था। वह वर प्राप्त करते-करते बिल्ली से कुत्ता, कुत्ते से चीता, चीते से शेर और शेर से मनुष्य बन गया। एक दिन शंकर ने पूछा—'अब तो कोई डर नहीं सता रहा है?' 'मौत का डर सता रहा है,' उसने उत्तर दिया, 'मनुष्य होने पर भी मेरी समस्या सुलझ नहीं पाई है, मैं चाहता हूं कि मुझे फिर चूहा बना दिया जाए।' शंकर ने वर दिया और चूहा अपने मूल रूप में आ गया। आज का मनुष्य भी शायद अपने आदिकाल में लौटने की सोच रहा होगा। क्योंकि उसके सामने जो भी समाधान का स्रोत आता है, वह समस्या बन-कर खड़ा हो जाता है। मनुष्य ने जिस धन को समस्या के समाधान के

आखें बाहर की ओर देखती हैं, कान बाहर की सुनते हैं। फलत हम रूप और नाम की ही प्रतिष्ठा करते हैं।

हम एक साधु के पवित्र जीवन का सम्मान करना नही जानते। हम आकार का सम्मान करना जानते हैं। जैन-साधु के रूप को देख एक वैष्णव का सिर श्रद्धा से नही झुकता है और एक वैष्णव-साधु के रूप को देख एक जैन का सिर श्रद्धा से नत नही होता है। इसका कारण आकार की प्रतिष्ठा है, प्रकार की प्रतिष्ठा से हम अपरिचित हैं। आकार के नीचे प्रकार दब जाता है। हमारी दृष्टि नाम और रूप की दीवार के इस पार तक ही पहुचती है, उस पार तक उसकी पहुच नही है।

कहा जाता है कि धर्म के कारण युद्ध हुए। मैं इस उक्ति-प्रवाह को बराबर चुनौती देता रहा हू। मेरे पक्ष की स्थापना यह है कि युद्ध धर्म के कारण नही हुए, किन्तु नाम और रूप के कारण हुए हैं। धर्म की आत्मा है एकात्मकता। धर्म की आत्मा की हत्या किए बिना युद्ध लडा ही नही जा सकता। वेदान्त का सिद्धान्त है, सब जीवो का मूलस्रोत एक है। जैनदर्शन का सिद्धान्त है—सब जीव समान हैं। यह सैद्धान्तिक एकत्व या समत्व की अनुभूति यदि मनुष्य के व्यवहार मे अनुस्यूत होती तो क्या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से लड सकता ? क्या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण कर सकता ? क्या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से घृणा कर सकता ? यह लडाई, पद, शोषण और घृणा अनेकता और विषमता की भूमिका पर पनप रही है। एक आदमी दिनभर कठोर श्रम कर धन कमाता है। सारे परिवार के लोग उसका उपभोग करते हैं। पर उनके मन मे कोई शिकायत नही होती। एक भद्र पति अपनी पत्नी से यह शिकायत नही करता कि मैं कमाता हू और तुम बैठी-बैठी खाती हो। परिवार के साथ एकत्व होता है, इसलिए ऐसी शिकायत का अवसर ही नही आता। शिकायत वही होती है, जहा अनेकता होती है। क्या कोई राज्यकर्मचारी अपने लडके से रिश्वत लेता है ? क्या कोई दूकानदार अपने लडके को धोखा देता है ? यह रिश्वत और यह धोखादेही वही होती है, जहा एकत्व की अनुभूति

नही है।

धर्म की आत्मा है सबके साथ एकत्व या समत्व की अनुभूति। इसका जितना तादात्म्य होता है, उतना ही व्यक्ति के जीवन मे धर्म का उदय होता है। चिन्तन की इस भूमिका पर देखता हू तब मुझे लगता है कि हमने धर्म के कल्पवृक्ष की आत्मा का स्पर्श नही किया, केवल उसका वल्कल ओढा है। यह स्पर्श समुद्र के किनारे रेत मे पडी सीपियो, घोघो और केकडो का है, उसके अन्तराल म छिपे रत्नो का नही है। ऐसी स्थिति मे हम करें क्या? महर्षि टॉल्स्टाय ने यही प्रश्न खडा किया था कि हम करें क्या?

परिस्थिति की जटिलता से मुक्ति पाने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ से परिस्थिति के चक्र को घुमाया जा सकता है। परन्तु भारतीय लोग कर्मवाद मे सीमा से अधिक विश्वास कर बैठे हैं। करोडो लोग भाग्य-भरोसे या राम-भरोसे जी रहे हैं। न जाने कितने लोग भाग्य के भरोसे बैठकर दु ख के भवर मे फस गए हैं और फसते जा रहे है। जो होना है, वही होगा और जो भाग्य म लिखा है, वही होगा, इन दो धारणाओ ने भारतीय जीवन को जितना क्षतिग्रस्त किया है, उतना किसी भयकर भूचाल और तूफान ने भी नही किया। जिसम अपना पुरुषार्थ नही है, उसे दूसरा कौन सहारा देगा? और क्यो देगा? मैं आपको एक कहानी सुनाऊ, बहुत मार्मिक और बहुत हृदयवेधी।

एक चोर चोरी कर रहा था। घरवाले जाग गए। हल्ला किया। आस-पास के लोग जाग उठे। चोर भागा। आगे-आगे वह भाग रहा था। पीछे-पीछे लोग दौड रहे थे। इस दौड म पुलिस भी उसका पीछा करने लगी। वह दौडता-दौडता थक गया। कही छिपने को कुछ मिला नही। जगल मे एक देवी का मन्दिर था। वह उस मन्दिर मे चला गया।

उस प्रदेश मे देवी की बहुत बडी प्रभावना थी। हजारो लोग उसकी पूजा किया करते थे। 'वहा जाकर कोई भी निराश नही लौटता,' यह जन-प्रवाद निरन्तर फैल रहा था। मन्दिर के प्रागण म पहुच चोर कुछ आश्वस्त

हुआ। उसने देवी को प्रणाम किया। वह भक्ति-भरे स्वर मे बोला—'मा! मुझे बचा, मैं तेरी शरण मे हू।' देवी उसकी विनम्रता मे प्रसन्न हो गई। वह बोली—'जब तुझे पकडने आए तब हुंकार कर देना, फिर कोई भी तेरे सामने नही आ सकेगा।'

चोर—'मा! डर के मारे मेरा गला रुध गया है, हुंकार मैं नही कर सकता।''

देवी—'जो तुझे पकडने आए, उसके सामने आख उठाकर देख लेना, फिर तुझे कोई भी नही पकड सकेगा।'

चोर—'मा! डर के मारे मेरी आखें पथरा गई है, मैं आख उठाकर सामने नही देख सकता।'

देवी—'अच्छा, मन्दिर के किवाड बन्द कर लेना, फिर तुम नही पकडे जा सकोगे।'

चोर—'मा! तुम कहती हो, वह ठीक है पर डर के मारे मेरे हाथ सठिया गए हैं, मैं किवाड बन्द नही कर सकता।'

देवी—'जा मेरी प्रतिमा के पीछे छिप जा।'

चोर—'मा! बहुत ठीक कहती हो पर डर के मारे मेरे पैर स्तब्ध हो गए हैं, मैं चल नही सकता।'

देवी ने क्रुद्ध स्वर मे कहा—'तो ऐसे निर्वीय और निकम्मे आदमी की सहायता मैं भी नही कर सकती।'

सफलता के लिए हमे नए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। आइए, हम एक नया पुरुषाथ करें और सर्वप्रथम अपनी धम-सम्बन्धी धारणाओं का परिष्कार और नए सम्बन्धो या अनुबन्धो की सृष्टि-सरचना करें।

अथसत्ता की फलोपलब्धि ऐश्वय है। उसके साथ सहानुभूति और सवेदनशीलता का अनुबन्ध होना चाहिए। इससे शोषण और सग्रह—दोनो वृत्तियो पर अकुश लगता है।

राज्यसत्ता की फलोपलब्धि अधिकार है। उसके साथ आत्मानुशासन का अनुबन्ध होना चाहिए। इससे अधिकार का उच्छृखल उपयोग नही

होगा।

धर्मसत्ता की फलोपलब्धि है पवित्रता। उसके साथ नैतिक अनुबन्ध होना चाहिए। धार्मिक की दृष्टि केवल परलोक की ओर दौड़ती है, वर्तमान जीवन की ओर कम दौड़ती है। धर्म नहीं करने से परलोक के बिगड़ने का डर रहता है पर अनैतिक व्यवहार करने से परलोक बिगड़ जाएगा, यह डर नहीं रहता। एक दिन माला-जप नहीं होता तो मन में ग्लानि का अनुभव होता है और सोचते हैं कि आज का दिन निकम्मा चला गया। किन्तु अनैतिक व्यवहार करने में न ग्लानि का अनुभव होता है और न दिन की व्यर्थता प्रतीत होती है। क्योंकि वे इस धारणा में जकड़े हुए हैं कि दो घड़ी धर्म करने से सारे पाप धुल जाते हैं। आज के धार्मिक से लोग शंकित हैं। उसके बाहरी और भीतरी रूप में सामंजस्य नहीं है। उसका खण्डित व्यक्तित्व धर्म के प्रति जन-मानस में सद्भावना उत्पन्न करने का हेतु नहीं बन रहा है। धार्मिक और अधार्मिक, आस्तिक और नास्तिक के व्यवहार में कोई लक्ष्मण रेखा नहीं रही है। धार्मिक के लिए यह गम्भीर चिन्तन का विषय है। धर्मसत्ता के शक्ति-संवर्धन का एक ही मार्ग सूझ रहा है। वह है एकत्व या ममत्व की अनुभूति का विकास और धर्म के साथ नैतिकता का अनुबन्ध।

४ धर्म का पहला प्रतिबिम्ब—नैतिकता

धर्म शब्द बहुत पुराना है। जन-मानस उससे बहुत परिचित है। भारतीय मानस और अधिक परिचित है। वह जितना धर्म शब्द से परिचित है, उतना अन्य किसी शब्द से नहीं है। मुझे लगता है अति परिचय के कारण ही शायद धर्म से लगाव या तादात्म्य कम हो गया है। पुराने ज़माने में हम धर्म को श्रद्धा के सन्दर्भ में स्वीकार करते थे। आज के वैज्ञानिक युग में प्रयोग के सन्दर्भ में उसे स्वीकार किया ज

दो विचारधाराओं के लोग है। वे दोनों दो छोर पकड़कर खड़े है। रस्सी के एक सिरे पर वे लोग हैं जो परम्परा से चिपके रहना चाहते है। परम्परा या वशानुक्रम से धर्म का जो रूप प्राप्त हुआ है उसमें परिवर्तन या सशोधन करना नहीं चाहते। धर्म की शल्य-चिकित्सा उन्हें प्रिय नहीं है। रस्सी के दूसरे सिरे पर वे लोग हैं जो धर्म को सर्वथा अस्वीकार करते है। ये दोनों धाराए सतुलन स्थापित नहीं कर सकतीं।

धर्म का आनुवंशिक गुण के रूप में स्वीकार हमें इष्ट नहीं है तो उसका अस्वीकार सर्वथा अनिष्ट है। मैं आपसे पूछना चाहता हू, क्या धर्म का अस्वीकार किया जा सकता है? जिस व्यक्ति में यत्किंचित् चैतन्य है, जो एकता, समता और प्रेम की भाषा में सोचता है, वह धर्म का अस्वीकार कर ही नहीं सकता। सस्थागत- धर्म और धर्म के पार्थक्य को समझे बिना कुछ लोग इस आत्म-भ्रान्ति में उलझ जाते हैं कि हम धर्म को स्वीकार नहीं करते। समाज की निष्पत्ति चेतना और अध्यात्म के द्वारा ही हुई है। व्यक्ति एकाकी था, तब वह जगली पशु की तरह निरकुश भटकता था। जब उसने समूह बनाकर रहना प्रारम्भ किया, तब उसमें अहिंसा की पहली किरण फूटी थी। इस भाषा को बदलकर भी कहा जा सकता है कि जिस दिन व्यक्ति में अहिंसा की पहली किरण फूटी थी, उस दिन उसने समूह बनाकर रहना प्रारम्भ किया। सामाजिकता का पहला सूत्र है—दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति और मर्यादा का निर्वाह। आप अपने घर में प्रवेश करते हैं, दूसरे के घर में नहीं। अपनी पगड़ी सिर पर रखते है, किसी दूसरे की पगड़ी उठाकर सिर पर नहीं रखते। यह व्यक्ति की मर्यादा है, भले कहिए, समाज की मर्यादा है। मर्यादा व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के सुख में बाधा डालने से रोकती है। यह मर्यादा कहा से आयी? इस प्रश्न के उत्तर में मैं कहूगा—इसका उत्पत्ति-स्रोत धर्म की भावना है, अहिंसा और अपरिग्रह की भावना है। यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, यह खाद्य है, यह अखाद्य है, यह अमृत है, यह विष है, यह घास है, यह अनाज है—यह पृथक्करण हमारा विवेक है। इसका प्रवाह धर्म-चेतना के धरातल से प्रवाहित होता है।

धर्म अपनी आधार-भित्ति—आध्यात्मिकता से बिछुड़कर आरोपित नियमों की जकड़ में आ गया है। जकड़ा हुआ धर्म चेतना को विकास देने के बदले कुण्ठा देता है। मैं नियमों की उपेक्षा नहीं करता और न आपको उस मार्ग की ओर ले जाना चाहता हूं। आचार्य शंकर के शब्दों में—'जब तक इस पिण्ड में अविद्योत्थ जीवत्व है तब तक शंकर भी विधि और निषेध का किंकर [illegible]।' किन्तु अध्यात्म की प्रेरणा से शून्य कृत्रिम नियमों की कारा में बन्दी बनना मुझे पसन्द नहीं है। मैं चाहता हूं मेरा धर्म मेरी स्वतंत्र चेतना की परिणति हो। वह जन्मना आरोपित न हो। कोई अपने को हिन्दू मानता है, कोई मुसलमान, कोई ईसाई, कोई जैन, कोई बौद्ध और कोई सिक्ख। इस मान्यता का आधार धर्म-भावना है या वंशानुक्रम? वंशानुक्रम धर्म का प्रेरणा-स्रोत बन सकता है किन्तु उसकी आत्मा नहीं बन सकता। धर्म की आत्मा अध्यात्म है। जिसमें अध्यात्म की चेतना स्फूर्त है वही धार्मिक है। फिर वह किसी भी वंशानुक्रम या परम्परा से सम्बद्ध क्यों न हो।

कुछ लोग सोचते हैं अमुक शासन-पद्धति आ गई तो हमारे धर्म का क्या होगा? यह चिन्तन धर्म की निष्प्राण सत्ता से निकलता है। यदि धर्म का अस्तित्व तेजस्वी हो तो उसे कोई भी शासन-पद्धति चुनौती नहीं दे सकती। मैं हूं, मेरा अस्तित्व है तो धर्म का अस्तित्व क्यों नहीं होगा? धर्म को अपने अस्तित्व से भिन्न मान लेने पर ही उसके अस्तित्व की सुरक्षा का प्रश्न उठता है। धर्म को अनुपयोगी मानने वाली शासन-पद्धति से धर्म की परम्परा को खतरा हो सकता है किन्तु वह भी स्थायी नहीं होगा। जो शासन आरम्भ में परम्परा का विघटन होता है, वही मध्यकाल में उसका सूत्रपात करता है, अन्त में उसका प्रेमी बन जाता है। हमें जितनी चिन्ता परम्परा की है, उतनी धर्म की नहीं है। धर्म रहा तो परम्परा अपने आप रह जाएगी। कोरी परम्परा रही और धर्म नहीं रहा तो वह रहकर क्या भला करेगी? मैं पतझड़ से कभी चिन्तित नहीं होता क्योंकि हर [illegible] के बाद वसन्त आता है। मेरी सारी चिन्ता इसमें व्याप्त होती है [illegible] का मूल सुरक्षित रहे।

घम की आत्मा आनन्द और चैतन्य है। वह धम का वहुत ही आकपय रूप है। हम उसे कम देख पाते हैं, क्योंकि हम अन्तमु खी दृष्टि का उपयाग कम करते हैं। वम वाहर मे आया हुआ या स्वीकार किया हुआ नही होना चाहिए। उमका स्रोत अन्तर् से फूटना चाहिए। कुए म जल का स्रोत अन्तर् से फूटता है। खोदनेवाले का काम इतना ही है कि वह भूमि के भीतर बहनेवाले जल से वाहरी दुनिया का मम्पक स्थापित कर दे। परम्परा या सम्प्रदाय का काम भी इतना ही है कि हर व्यक्ति के अन्तस्तल मे वहनेवाले घम के स्रोत से हमारे स्थूल व्यक्तित्व का मम्पक स्थापित कर दे। जिसे अपनी आन्तरिक सम्पदाओ का ज्ञान नही होता, वह ममृद्धि मे वचित रह जाता है। जिसे अपने आप पर भरोसा नही होता, वह हतप्रभ और क्षीणवल हो जाता है। वाह्य की स्वीकृति और अन्तर् की अस्वीकृति से अन्तद्वन्द्व पैदा होते हैं। ऐमा युग इतिहास मे पागलखानो के विकास का युग कहलाएगा।

पुरानी पीढी के लोग नई पीढी की धार्मिक अरुचि से चिंतित हैं। किन्तु इस चिता मे जीवट नही है। क्या वे घम का ऐसा रूप स्पायित करने को प्रस्तुत हैं, जिससे नई पीढी घम के प्रति आकृष्ट हो सके ?

गाव मे एक नया डॉक्टर आता है—अपरिचित और अनजान। वह एक-दो अच्छी चिकित्सा करता है और समूचे गाव के आकपण का केन्द्र वन जाता है। उस आकषण केसाथ जनता के लाभ का अनुवध है। हम धार्मिक लोगो के लिए यह चितनीय है कि हमारे घम के साथ लाभ का अनुवघ है या नही ? घम के साथ लाभ का जो अनुवघ है वह सारा का सारा परोक्ष, अत्यन्त परोक्ष है, जो मरने के वाद प्राप्त होता है। महान् जैनाचार्य उमास्वाति ने कहा—'मोक्ष इसी जन्म मे हो सकता है।' जव इस जन्म मे मोक्ष हो सकता है तो स्वग क्यो नहीं हो सकता ? क्या वह धार्मिक है, जिसे इस जन्म मे स्वग की अनुभूति नही है, मोक्ष की अनुभूति नही है ?

अत्यन्त परोक्षता में आकषण पैदा नहीं हो सकता। मरने के वाद स्वर्ग पाने का आकपण पहले कभी रहा होगा। आज के चिन्तनशील व्यक्ति

मे वह नही है। वह जीवन पर धर्म की तात्कालिक प्रतिक्रिया देखना चाहता है। हमारी धार्मिक परम्परा वर्तमान की ओर कम ध्यान दे रही है, इसीलिए वह आकर्षण का केन्द्र नही बन रही है। मैं सुदूर भविष्य की चिन्ता नही करने का समर्थन नही कर रहा हू। मैं इस तथ्य पर बल देना चाहता हू कि वर्तमान की चिंता से विमुख न हो।

आज धर्म की पुन प्रतिष्ठा की आवश्यक अनुभूति हो रही है। धर्म का वह रूप वर्तमान और भविष्य दोनो को लाभान्वित कर सकता है, जिसकी आधार-भित्ति अध्यात्म और फल-परिणति नैतिकता हो।

नैतिकता सापेक्ष शब्द है। समाज-सम्मत कर्तव्य की रेखाओ को नैतिकता मान लेने पर उनका स्वरूप कभी स्थिर नही होता। देश और काल के परिवर्तन के साथ समाज की नैतिक मान्यताए भी बदल जाती हैं। ऐसे कार्य बहुत कम मिलेंगे, जिनकी समाज द्वारा कभी निन्दा, कभी प्रशसा न हुई हो।

धर्म से प्रतिफलित होनेवाली नैतिकता की कसौटी सामाजिक धारणा नही, किन्तु व्यक्ति की अपनी पवित्रता होती है। धार्मिक के व्यवहार मे शोषण, उत्पीडन, कुटिलता, दर्प और आवेश नही होता। जिस व्यवहार मे ये नही होते, वह प्रामाणिकता, सचाई और सरलता से ओत-प्रोत होता है। उसी व्यवहार का नाम नैतिकता है। जो जलने पर भी सुवास न दे, क्या हम उसे अगरबत्ती मानेंगे? जिसके व्यवहार मे धर्म का प्रतिबिम्ब न हो, क्या हम उसे धार्मिक मानेंगे? जिस प्रकार धुए की अग्नि के साथ व्याप्ति है, उसी प्रकार नैतिकता की धर्म के साथ व्याप्ति है। धुए को देखकर हम परोक्ष अग्नि को जान लेते हैं, वैसे ही नैतिकता को देखकर हम व्यक्ति के अन्तस्तल मे प्रवहमान धर्म की धारा का साक्षात कर लेते है।

मैं यदि ठीक सोचता हू तो मेरा अभिमत है कि धर्म का पहला प्रतिबिम्ब है नैतिकता और दूसरा प्रतिबिम्ब है उपासना। इस क्रम का व्यतिक्रम यह सूचित करता है कि हमारी गति मे स्वाभाविकता नही है, प्लुत सचार है, छलाग भरने की चेष्टा है। नींव की मजबूती के बिना खडा किया हुआ प्रासाद क्या लम्बे समय तक टिक सकेगा? क्या नैतिकता-शून्य उपासना व

भव्य-भवन इसे त्राण दे सकेगा ? मैं इस प्रश्न का उत्तर इस भाषा में देना चाहता हू कि नैतिकता के बिना उपासना का प्रासाद ढह जाएगा और धर्म का अस्तित्व भूगर्भ मे ही सुरक्षित होगा, हमारी दुनिया मे नही ।

५ अध्यात्म से विच्छिन्न धर्म का अर्थ अधर्म की विजय

एक तोता पिंजरे मे बैठा है। वह कुछ बोल रहा है। उसे जो रटाया गया, उसी की पुनरावृत्ति कर रहा है। तोते मे स्मृति है पर चिन्तन नही है। मनुष्य मे स्मृति और चिन्तन दोनो हैं। मनुष्य कोरी रटी-रटाई बात नही दुहराता, वह नई बात सोचता है, नया पथ चुनता है और उस पर चलता है।

एक भैंसा हजार वर्ष पहले भी भार ढोता था और आज भी ढो रहा है। वह हजार वर्ष पहले जिस ढग से जीता था, उसी ढग से आज जी रहा है। उसने कोई प्रगति नही की है, क्योकि उसमे स्वतन्त्र चिन्तन नही है।

मनुष्य ने बहुत प्रगति की है। वह प्रस्तर-युग से अणुयुग तक पहुच गया है। वह झोपडी से सौमजिले प्रासाद तक पहुच गया है। उसने जीवन के हर क्षेत्र मे विकास और गति की है। स्मृति और स्वतन्त्र-चिन्तन की सम्बन्ध-शृखला परम्परा है। यदि मनुष्य परम्पराविहीन होता तो भैंसे से बहुत अतिरिक्त नही होता। मानवीय विकास का इतिहास परम्परा का इतिहास है। अतीत की अनुभूतियो के तेल से मनुष्य का चिन्तन-दीप जला है और उसके आलोक मे उसे वर्तमान की अनेक पगडण्डिया उपलब्ध हुई हैं।

कुछ लोग परम्परा का विच्छेद करना चाहते है पर ऐसा हो नही सकता। जिसमे स्मृति है वह कोई भी व्यक्ति परम्परामुक्त नही हो सकता।

मे यह नहीं है। वह जीवन पर धर्म की वर्तमानिक प्रतिक्रिया देखना चाहता है। हमारी धार्मिक परम्परा वर्तमान की ओर कम ध्यान दे रही है, इसीलिए वह आकर्षण का केन्द्र नहीं बन रही है। मैं सुदूर भविष्य की चिन्ता नहीं करने का समर्थन नहीं कर रहा हू। मैं इस तथ्य पर बल देना चाहता हू कि वर्तमान की चिन्ता से विमुख न हो।

आज धर्म की पुन प्रतिष्ठा की आवश्यक अनुभूति हो रही है। धर्म का वह रूप वर्तमान और भविष्य दोनो को लाभान्वित कर सकता है, जिसकी आधार-भित्ति अध्यात्म और फल-परिणति नैतिकता हो।

नैतिकता सापेक्ष शब्द है। समाज-सम्मत कर्तव्य की रेखाओ को नैतिकता मान लेने पर उनका स्वरूप कभी स्थिर नहीं होता। देश और काल के परिवर्तन के साथ समाज की नैतिक मान्यताए भी बदल जाती हैं। ऐसे कार्य बहुत कम मिलेंगे, जिनकी समाज द्वारा कभी निन्दा, कभी प्रशसा न हुई हो।

धर्म से प्रतिफलित होनेवाली नैतिकता की कसौटी सामाजिक धारणा नहीं, किन्तु व्यक्ति की अपनी पवित्रता होती है। धार्मिक के व्यवहार मे शोषण, उत्पीडन, कुटिलता, दर्प और आवेश नहीं होता। जिस व्यवहार मे ये नहीं होते, वह प्रामाणिकता, सचाई और सरलता से ओत-प्रोत होता है। उसी व्यवहार का नाम नैतिकता है। जो जलने पर भी सुवास न दे, क्या हम उसे अगरबत्ती मानेंगे ? जिसके व्यवहार मे धर्म का प्रतिबिम्ब न हो, क्या हम उसे धार्मिक मानेंगे ? जिस प्रकार धुए की अग्नि के साथ व्याप्ति है, उसी प्रकार नैतिकता की धर्म के साथ व्याप्ति है। धुए को देखकर हम परोक्ष अग्नि का ज्ञान लेते है, वैसे ही नैतिकता को देखकर हम व्यक्ति के अन्तस्तल मे प्रवहमान धर्म की धारा का साक्षात् कर लेते हैं।

मैं यदि ठीक सोचता हू तो मेरा अभिमत है कि धर्म का पहला प्रतिबिम्ब है नैतिकता और दूसरा प्रतिबिम्ब है उपासना। इस क्रम का व्यतिक्रम यह सूचित करता है कि हमारी गति मे स्वाभाविकता नहीं है, प्लुत सचार है, छलाग भरने की चेष्टा है। नीव की मजबूती के बिना खडा किया हुआ प्रासाद क्या लम्बे समय तक टिक सकेगा ? क्या नैतिकता-शून्य उपासना का

भव्य-भवन इसे त्राण दे सकेगा ? मैं इस प्रश्न का उत्तर इस भाषा मे देना चाहता हू कि नैतिकता के बिना उपासना का प्रासाद ढह जाएगा और धर्म का अस्तित्व भूगर्भ मे ही सुरक्षित होगा, हमारी दुनिया म नही ।

५ अध्यात्म से विच्छिन्न धर्म का अर्थ अधर्म की विजय

एक तोता पिजरे मे बैठा ह। वह कुछ बोल रहा है। उसे जो रटाया गया, उसी की पुनरावृत्ति कर रहा ह। तोते म स्मृति है पर चिन्तन नही है। मनुष्य मे स्मृति और चिन्तन दोनो हैं। मनुष्य कोरी रटी-रटाई बात नही दुहराता, वह नई बात सोचता है, नया पथ चुनता है और उस पर चलता है।

एक भैसा हजार वष पहले भी भार ढोता था और आज भी ढो रहा है। वह हजार वष पहले जिस ढग मे जीता था, उसी ढग से आज जी रहा है। उसने कोई प्रगति नहीं की है, क्योकि उसम स्वतन्त्र चिन्तन नही है।

मनुष्य ने बहुत प्रगति की है। वह प्रस्तर-युग से अणुयुग तक पहुच गया है। वह झोपडी से सौमजिले प्रासाद तक पहुच गया है। उसने जीवन के हर क्षेत्र मे विकास और गति की है। स्मृति और स्वतन्त्र-चिन्तन की सम्बन्ध-शृखला परम्परा है। यदि मनुष्य परम्पराविहीन होता तो भैसे से बहुत अतिरिक्त नही होता। मानवीय विकास का इतिहास परम्परा का इतिहास है। अतीत की अनुभूतियो के तेल से मनुष्य का चिन्तन-दीप जला है और उसके आलोक मे उसे वर्तमान की अनेक पगडण्डिया उपलब्ध हुई हैं।

कुछ लोग परम्परा का विच्छेद करना चाहते है पर ऐसा हो नही सकता। जिसमे स्मृति है वह कोई भी व्यक्ति परम्परामुक्त नही हो सकता।

स्मृति और परम्परा मे गहरा अनुबन्ध है। मैं निश्चय की भाषा मे कहूँ तो मुझे कहना चाहिए कि स्मृति ही परम्परा है।

हम मनुष्य हैं। स्मृति हमारी विशेषता है। हम अतीत से लाभान्वित होना चाहते है। इसलिए परम्परा से मुक्त नही हो सकते, उसका परिष्कार कर सकते हैं। प्रशिक्षण की यही उपयोगिता है। प्रशिक्षण पशु-पक्षियो को भी दिया जाता है, उनमे पटुता भी आती है पर वे स्वतन्त्र चिन्तन के अभाव मे मनुष्य की भाति पटु नही बन सकते।

एक बन्दर को प्रशिक्षित किया गया। वह राजा की परिचर्या मे रहता था। एक दिन राजा सो रहा था। बन्दर नगी तलवार हाथ मे लिये पहरा दे रहा था। राजा के गले पर मक्खी बैठ गई। बन्दर ने उसे उड़ाने की चेष्टा की। वह उड़ी नही तो बन्दर ने क्रोध मे आकर उस पर तलवार चला दी। राजा का गला लहूलुहान हो गया। बन्दर के पास शिक्षा थी, पर मनन नही था। वह सन्दर्भ को नही समझता था, मनुष्य सदर्भ को समझता है।

प्रशिक्षण के साथ अपने मनन तथा दर्शन का योग न हो तो वह विकास-शील नही बनता। आज तक विकास की जितनी रश्मियां इस भूमि पर आयी हैं, वे सब स्मृति, परम्परा, प्रशिक्षण, मनन और दर्शन के वायुमण्डल मे छनकर आयी हैं। हम धर्म की चर्चा इसीलिए करना चाहते है कि इन रश्मियो के केन्द्र मे धर्म प्रतिष्ठित है। धर्म की उपेक्षा कर मनुष्य विकास से ही विमुख नही होता, किन्तु सामुदायिक जीवन की आधार-भित्ति से भी विमुख हो जाता है। सत्य और विश्वसनीय व्यवहार के बिना क्या सामाजिक जीवन का कोई अस्तित्व है? मनुष्य एक-दूसरे के विश्वास पर समुदित हुआ हैं। इसी विश्वास के आधार पर जीवन का व्यवहार चल रहा हैं। गोद मे सोए हुए का सिर काटने की मनोवृत्ति यदि व्यापक होती तो मनुष्य अकेला होता, जगली होता, सामाजिक जीवन जीने का अधिकार उसे प्राप्त नही होता। पर ऐसा नही है। मनुष्य मे सत्य की आस्था है। सत्य के पौधे पर विश्वास के फूल खिले हुए हैं। उन्ही की सुगन्धि से प्रमु-

दित मनुष्य सामुदायिकता के मच पर अनेक प्रकार के अभिनय कर रहे हैं। सत्य को केन्द्र मे रखे बिना सामाजिक विकास नही हो सकता तो क्या धर्म की उपेक्षा कर वह किया जा सकता है ? मैं पूरी निष्ठा के साथ कहूगा कि नही किया जा सकता। धर्म और क्या है ? वह सत्य ही तो धर्म है।

एक सस्कृत कवि ने कहा है—'जिस व्यक्ति के दिन धर्म से शून्य होते हैं, वह लोहार की धौंकनी की भांति श्वास लेता है पर जीता नही है।' यदि यह बात मैं कहता तो मेरी भाषा यह होती कि वह श्वास भी नही ले सकता। क्या भूखे भेडिये की शरण मे जाकर कोई श्वास ले सकता है ? क्या हिंसा, क्रूरता, असत्य और चौर्य के साम्राज्य की सृष्टि कर मनुष्य सामाजिक जीवन जी सकता है ? यह असभव है तो मैं कहूगा कि धर्म के बिना जीना असभव है। पतझड आता है, पेड के पत्र, पुष्प और फल सभी झड जाते हैं। वसन्त आता है और पेड फिर पत्र, पुष्प और फल से भर जाता है। यह क्रम चलता ही रहता है। धर्म की परिधि मे सत्ता और अर्थ आ जाते हैं, तब एक विचार-क्रान्ति होती है और धर्म की परिधि सिमट जाती है। फिर उसके अनुशासन की अपेक्षा प्रतीत होती है और उसकी परिधि व्यापक हो जाती है। पतझड मे भी पेड का अस्तित्व सुरक्षित रहता है। धर्म के परिवार का लोप हो जाने पर भी उसका अस्तित्व कभी विलुप्त नही होता। एक प्रासाद बनता है और पुराना होने पर ढह जाता है। प्रासाद बनने पर आकाश व्यक्त होता है और उसके ढह जाने पर वह अव्यक्त हो जाता है पर आकाश का अस्तित्व कभी समाप्त नही होता। धार्मिक लोग अच्छे होते हैं, धर्म व्यक्त हो जाता है। धार्मिक लोग बाहरी क्रियाकाण्डो मे उलझ जाते हैं, धर्म अव्यक्त हो जाता है। किन्तु अव्यक्ति और अनस्तित्व एक नही है।

भौतिकवाद का विकास हो रहा है। लोग धर्म को भुलाते जा रहे हैं। मार्क्स ने कहा, धर्म अफीम है, एक मादक द्रव्य है। वह व्यक्ति मे उन्माद पैदा करता है। इस दर्शन के आधार पर चलनेवाले धर्म को विकास मे

सर्वोपरि बाधा मानते हैं। साम्यवादी देशों ने धर्म के उन्मूलन का प्रयत्न भी किया है। किन्तु यह सब धर्म के शरीर पर घटित हो रहा है। धर्म के शरीर को भुलाया जा सकता है, धर्म को नहीं भुलाया जा सकता। जिसके प्रति श्रद्धा होती है, वह मनुष्य के लिए मादक बन जाता है। राष्ट्रनिष्ठ लोगों के लिए क्या राष्ट्र मादक नहीं बनता? भाषानिष्ठ लोगों के लिए क्या भाषा मादक नहीं बनती? जाति, वर्ण आदि जो भी मानवीय उपकरण हैं वे मनुष्य की श्रद्धा प्राप्त कर मादक बन जाते हैं। हम इस सचाई का क्यों अस्वीकार करें कि धर्म में मादकता है। प्रस्तुत प्रसंग में एक सत्य को अनावृत करना भी आवश्यक है। यह मादकता धर्म के शरीर में है, उसकी आत्मा में नहीं है। धर्म का शरीर है सम्प्रदाय और उसकी आत्मा है अध्यात्म। शरीर सहज ही प्राप्त हो जाता है। आत्मा की प्राप्ति साधना द्वारा होती है। आत्मा तक पहुंचने वाले धार्मिक बहुत कम होते हैं। अधिकांश धार्मिक शरीरसेवी होते हैं। वे साम्प्रदायिक मादकता से बच ही कैसे सकते हैं? जब अध्यात्म को विच्छिन्न कर मनुष्य धर्म-शरीर से चिपकते हैं, तब धर्म निष्प्राण हो जाता है। फिर आत्मानुशासन और व्यापक दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है। धर्म कृत्रिम नियमों और संकीर्ण दृष्टिकोण का पुंज बन जाता है। वैसा धर्म सामाजिक-परिवर्तन में बाधा डालता है। तब सामाजिक क्रान्ति करने वाले उसे सब रूढ़ियों को शरण देने वाला संस्थान मानकर उसके उन्मूलन का प्रयत्न करते हैं। ऐसे रूढ़ और अध्यात्म से विच्छिन्न धर्म-शरीर के प्रति हमारी कोई निष्ठा नहीं है। धर्म के क्षेत्र में बहुत बड़ी क्रान्ति अपेक्षित है। आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से इसे नेतृत्व दिया है और क्रान्ति के बीज बोए जा रहे हैं।

जन्म से मृत्यु-पर्यन्त धर्म करने वालों में व्यापक दृष्टि और मैत्री-विकसित नहीं होती, इसका फलित है अध्यात्म की प्रतिष्ठा प्राप्त किए बिना धर्म हमारे जीवन में अलौकिक परिवर्तन नहीं ला सकता। लौकिक परिवर्तन के लिए हमारा लौकिक विज्ञान पर्याप्त है। उसके लिए हमें धर्म की शरण में जाने की कोई अपेक्षा नहीं है। प्रभु के नाम की माला जपने

वाना किमी दिन माना नहीं जपना है ना उम ऐमा प्रतीत हाना है कि आज का दिन व्यथ चला गया। वह अनैतिक और अप्रामाणिक व्यवहार करता है, उसे ऐसी अनुभूति नहीं होती कि आजका दिन व्यथ चला गया। धमकी समग्र जीवन मे परिवतन लाने के लिए नहीं है, किन्तु जीवनगत अशुद्धियो को यथावत् बनाए रखने के लिए है। धम का आचरण इसलिए नहीं हो रहा है कि जीवन-व्यवहार की बुराइया मिट जाए किन्तु वह इसलिए हो रहा है कि बुराइया मे प्राप्त हान वाला दाष धुल जाए। एक आदमी आयुर्वेद-विशारद से कह रहा है कि मैं स्वाद-लालुपता का छोडने म असमथ हू। मुझे ऐसी औषधि दो, जिसम खव खाऊ और बीमार न बनू। क्या धार्मिक भी इसी भाषा मे नही सोच रहा है ? दो व्यक्तियो के बीच यायालय मे मामला चल रहा है। दोनो उसे जीतने के लिए धम की आराधना कर जाते है। जो झूठा है, वह क्या धम से अधर्म की, सत्य से असत्य की विजय नही चाहता है ? यदि चाहता है तो धम या सत्य मे उसकी आस्था कहा है ? उसने धम को अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन मात्र मान रखा है।

धम जब-जब कामना की पूर्ति का साधन बनता है, तब-तब उसके आसपास विकार घिर आते है। विकारो से घिरा हुआ धमभूत से भी अधिक भयंकर हो जाता है। भगवान् महावीर ने ऐसे धम के खतरे की स्पष्ट चेतावनी दी थी। उनकी वाणी है—'कालकूट विष का पान, अविधि से पकडा हुआ शस्त्र और सुरक्षा की विधि जाने बिना साधा हुआ वैताल जैसे खतरनाक होते हैं, वैसे ही विकारो से समापन्न धम खतरनाक होता है।' इस प्रकार के खतरनाक धम को ही मार्क्स ने अफीम कहा था। अध्यात्म से अनुप्राणित धम अफीम या मादक नही होता।

अध्यात्म क्या है ?

स्वतन्त्रता की अनुभूति—इससे आकाक्षा के उत्ताप और बन्धन टूट जाते हैं।

पूर्णता की अनुभूति—इससे रिक्तताएं भर जाती है, शून्य ठोस मे बदल जाता है।

आनन्द की अनुभूति—इससे दु ख की परम्परा विच्छिन्न हो जाती है।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि हमारे सामने है। ये अपने आलोक से आलोकित नही है। जो इन्हे आलोकित करता हुआ भी पर्दे के पीछे है, वह अध्यात्म है। स्वतन्त्रता की माग वहीं से आ रही है। पूर्णता का स्वर वही से उठ रहा है। आनन्द की उर्मि वही से उच्छलित हो रही है। बटन दबाते ही बल्ब प्रकाशित हो उठता है। किन्तु उस प्रकाश का स्रोत बल्ब नही है। प्रकाश का स्रोत बिजलीघर (पावर-हाउस) है। चैतन्य का स्रोत इन्द्रिय, मन और बुद्धि नही है, किन्तु अध्यात्म है जो हर व्यक्ति मे अनन्त सागर की तरह लहरा रहा है।

जिस क्षण स्वतन्त्रता की अनुभूति नही है, वह क्षण धर्म के स्रोत से अनुस्यूत नही है। जिस क्षण मे पूर्णता की अनुभूति नही है, वह क्षण धर्म के स्रोत से अनुस्यूत नही है। जिस क्षण आनन्द की अनुभूति नही है, वह क्षण धर्म के स्रोत से अनुस्यूत नही है। जहा प्रकाश के स्रोत की अनुस्यूति नही है, वहा प्रकाश कैसे होगा ?

६ दु ख-मुक्ति का आश्वासन

मानवीय प्रवृत्ति का एक ही लक्ष्य है और वह है दु ख-मुक्ति, विधि की भाषा मे सुख की उपलब्धि। प्रत्येक धर्मशास्त्र दु ख-मुक्ति का आश्वासन देता है। जिस पद्धति मे दु ख-मुक्ति का आश्वासन नही है, उसके प्रति जनता आकृष्ट नही हो सकती। किन्तु एक प्रश्न है, धर्म के द्वारा दु ख-मुक्ति का जो आश्वासन मिला है, वह पूरा हो रहा है ? यदि हो रहा है तो धर्म के प्रदीप को प्रचण्ड तूफान भी नही बुझा सकेगा। यदि वह पूरा नही हो रहा है तो यह अनुसन्धेय है कि त्रुटि (१) औषध मे है, (२) औषध देने

वाले मे है, (३) औषध लेने म है या (४) औषध लेने वाले म ?

(१) यदि त्रुटि औषध मे है तो उसे छोड कोई दूसरी औषध लनी होगी।

(२) यदि वह देने वाले म ह तो दूसरे डॉक्टर की शरण लेनी होगी।

(३) यदि वह पद्धति म है तो उसे बदलना होगा।

(४) यदि वह लेन वाले म है तो उसकी प्रकृति का परिष्कार करना होगा।

१ धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप म कोई न्यूनता दिखाई नही देती। उसका उपासनात्मक स्वरूप एकागी होने के कारण क्षत-विक्षत हो गया है। नाम-जप चित्त की एकाग्रता का हेतु बन सकता है। शास्त्र-श्रवण चित्त की एकाग्रता का हेतु बन सकता है। उपासना के अन्यान्य पक्ष भी चित्त की एकाग्रता के हेतु बन सकते है। किन्तु जो मानस एकता की अनुभूति (अहिंसा) से अनुस्यूत नही है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा ? जिस मानस मे सत्य प्रतिष्ठित नही है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा ? जो मानस पर-स्व के अपहरण से विरत नही है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा ? जो मानस सहज आनन्द (ब्रह्मचर्य) से परितृप्त नही है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा ? जो मानस इच्छा की प्रताडना मे परिमुक्त नहीं है, क्या वह एकाग्र हो सकेगा? वही मानस एकाग्र हो सकता है, जिसमे व्रत की प्रतिष्ठा है। धर्म की वातमानिक विकलागता यह है कि उसका निमित्त-पक्ष उपादान-पक्ष से प्रबल हो गया है। उसकी चिकित्सा निमित्त पक्ष को दूसरा और उपादान-पक्ष को पहला स्थान देकर ही की जा सकती है।

२ धर्म के अधिकाश पथ-दर्शक सत्य के प्रति उतने आस्थावान् नही हैं, जितने अपने सम्प्रदाय के प्रति हैं। इसीलिए धर्म का प्रतिपादन सत्य की शोध के रूप मे कम होता है परम्परा की पुष्टि के रूप म अधिक होता है। एक सामाजिक व्यक्ति अपनी अपूर्णता को स्वीकार कर सकता है किन्तु एक धर्मगुरु के लिए ऐसा करना कठिन है। एक सामाजिक विद्वान् नये सत्य का उद्घाटन होने पर अपने प्राचीन अभिमत को बदल सकता है

रुचि के अनुकूल व्यवसाय चुन लेता है। धार्मिक का इतनी स्वतन्त्रता नही है या अपनी स्वतन्त्रता का वह इस क्षेत्र मे उपयोग नही कर रहा है। मै इस पक्ष की स्थापना नही कर रहा हू कि धार्मिक वही हो सकता है, जो अपने पैतृक धर्म का परिवर्तन करता है। किन्तु इस पक्ष की स्थापना मुझे अवश्य प्रिय है कि धार्मिक व्यक्ति अपने पैतृक धर्म को विवेक और अनुभूति की कसौटी मे कसकर ही उसे स्वीकृति दे।

धर्म, धर्म के प्रतिपादक, धर्म की पद्धति और धार्मिक, इन चारो तत्त्वो में पूर्वापेक्षित तथा देश-कालानुरूप परिवर्तन और धर्म के निर्मल जल मे मिले हुए कीचड का शुद्धीकरण करना ही धर्मक्रान्ति है। उसके होने पर ही धर्म अपने दु खमुक्ति के आश्वासन को पूर्ण कर सकता है।

७ धर्म की कसौटी

आज मेरी दृष्टि के सामने तीन शब्द नाच रहे है—प्रेक्षा, परीक्षा और प्रयोग। पहले का सम्बन्ध दर्शन से है, दूसरे का तर्कशास्त्र से और तीसरे का विज्ञान से। प्रेक्षा आत्मानुभूति का दर्शन है। जिसकी आन्तरिक चेतना जागृत हो जाती है, वह सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती दृश्य को देख लेता है। आज की भाषा मे हम लोग बुद्धि-व्यायाम को दर्शन कहते हैं। किन्तु वास्तविक अर्थ मे वह दर्शन नही है। जहा दृश्य व्याप्ति या तर्कशास्त्रीय नियमो के माध्यम से ज्ञात होता है, वह दर्शन नही हो सकता। दर्शन मे दृश्य और द्रष्टा का सीधा सम्पर्क होता है, किसी माध्यम के द्वारा नही होता। ऐसा क्यो होता है? इसकी व्याख्या का प्रयत्न होता है, तब हम तर्कशास्त्र की परिधि मे आ जाते हैं। दार्शनिक जगत् मे ज्ञान है, अनुभूति है पर भाषा का प्रयोग नही है। भाषा माध्यम है और उसका प्रयोग परोक्षानुभूति के जगत् मे ही होता है। तर्कशास्त्र का क्षेत्र परोक्षानुभूति या माध्यम द्वारा होने वाला ज्ञान है। तर्कशास्त्र और विज्ञान पढाए जा सकते

है, किन्तु दर्शन पढाया नहीं जा सकता। वह व्यक्ति की अपनी ही चैतसिक निर्मलता या अनावरणता में उपलब्ध होता है। इस सदर्भ मे मुझे यही कहना चाहिए कि प्रेक्षा की व्याख्या साधना के द्वारा ही की जा सकती है और वह उसी के द्वारा जानी जा सकती है। इस प्रसग मे वह उक्ति कितनी चरितार्थ होती है—गुरोस्तु मौन व्याख्यान।

शिष्यास्तु छिन्नसशया।

जहा गुरु का मौन व्याख्यान और शिष्यो की मौन उपासना होती है, वहा दर्शन मुखर हो उठता है। भगवान् महावीर ने इसी अनुभूति के स्वर मे कहा था—जो देखता है, उसके लिए शब्द नही है। इसी सत्य को मैं इस भाषा मे प्रस्तुत करता हू कि शब्द उसी के लिए हैं, जिसका सत्य के साथ सीधा सपर्क नहीं है। आज हम शब्द के माध्यम से सत्य की जिज्ञासा कर रहे हैं और वह इसलिए कर रहे है कि हमे प्रेक्षा प्राप्त नहीं है। सप्रति हमारे सामने दो ही धरातल हैं—एक परीक्षा का और दूसरा प्रयोग का। प्रेक्षा के धरातल की सप्राप्ति हमारे लिए असम्भव नहीं हैं। वह तदनुकूल साधना और पुरुषार्थ के अभाव मे असभव बन रही है। ध्यान की विशिष्ट भूमिका प्राप्त होने पर प्रेक्षा का द्वार अनायास उद्घाटित हो जाता है।

परीक्षा तर्कशास्त्रीय पद्धति है। उसका मुख्य आधार व्याप्ति है। जहा धुआ था, वहा अग्नि थी—यह एक व्यक्ति ने देखा और अनेक व्यक्तियो ने देखा, सब देश और सब काल मे देखा, जहा देखा वहा ऐसा ही मिला। इसलिए धूम और अग्नि के साहचर्य का नियम बना लिया गया। इसी का नाम व्याप्ति है। उसके आधार पर हम दृष्ट साधन से अदृष्ट साध्य का ज्ञान कर लेते है—दृष्ट धूम के द्वारा अदृष्ट अग्नि को जान लेते हैं।

प्रयोग वैज्ञानिक पद्धति है। इस पद्धति मे परीक्षा का भी उपयोग किया जाता है। किन्तु इसमे केवल परीक्षा के लिए ही अवकाश नहीं है। इसमे प्रायोगिक विधि से परिवर्तन की प्रक्रिया और उसके कारणो का भी विश्लेपण किया जाता है।

वर्तमान मे परीक्षा और प्रयाग, ये दोना पद्धतिया धम के क्षेत्र म व्यवहृत नही है। उसका आचरण प्राय पूव-मान्यता के आधार पर चल रहा है। पूव-मान्यता का उपयोग नही है, एमा मैं नही कहता। तकशास्त्र आर विज्ञान दोनो क्षेत्रा मे उसका उपयाग है। तकशा-त्रीय मयादा म पूव-मान्यता (विकल्पसिद्ध पक्ष) का स्वीकृति दिए विना वाद और प्रतिवाद का प्रारम्भ ही नही हा सकता। वैज्ञानिक भूमिका मे पूव-मान्यता का स्थान दिए विना प्रयोग का द्वार ही नहीं खुलता। एक तकशास्त्री पूव-मान्यता से चिपके नही रह सकता। साधन क द्वारा साध्य की सिद्धि हा जाने पर वह विकल्पसिद्ध पक्ष मे हटकर प्रमाणसिद्ध पक्ष की परिधि म चला जाता है। एक वैज्ञानिक प्रयागसिद्ध भूमिका मे पहुचकर पूव-मान्यता को छाड देता है। वैसाखी मानवीय शरीर का अग नही है। वह मात्र उपकरण है। पैरो की अशक्तदशा म मनुष्य उसे धारण करता है। पैरो की शक्ति प्राप्त होने पर भी क्या उसे धारण करना अनिवाय है? पूव-मान्यता को हम वैसाखी से अधिक मूल्य नही द सकते। हमने धम को एक पूव-मान्यता के रूप मे स्वीकार कर रखा है। ऐसा करना हमारी नासमझी नही है किंतु उसे पूव-मान्यता के रूप म ही स्वीकार किए रहना निश्चित रूप में नासमझी है। एक बौद्धिक क लिए धम इसीलिए आकपण का केन्द्र नही वन रहा है, क्याकि वह तक के निकप से कसा हुआ नही है। एक वैज्ञानिक के लिए धम इसीलिए आकपण का केन्द्र नही बन रहा है, क्याकि वह प्रयोगसिद्ध नही है। धम उन लागो के हाथो की गेंद बन रहा है, जा अबौद्धिक और अवैज्ञानिक हैं। इसीलिए आज की नई पीढी धम को पुराना मानती है। किसी बूढे से पूछा कि पुराने का क्या मूल्य होता है? उस कपडे से पूछो जो जीण-शीण हो जाने पर फेंक दिया जाता है। उस प्रासाद से पूछो जो खण्डहर होने पर धराशायी होने को है। सचमुच आज धर्म पुराना हो गया है। आपको आश्चय होगा, धम शाश्वत है, फिर पुरातन कैसे? जो अशाश्वत होता है, वह नया और पुराना होता है। शाश्वत नया और पुराना नही होता। क्या धम शाश्वत है? जा शाश्वत

है, वह धर्म का आन्तरिक रूप—अध्यात्म है। धर्म का वाह्य स्वरूप शाश्वत नही है। उसके परिपार्श्व मे पल्लवित विधि-विधान और नियम शाश्वत नही हैं। अशाश्वत शाश्वत से प्राण-सचार नही पा रहा है इसी-लिए वह पुराना हो रहा है।

अध्यात्म से अनुप्राणित धर्म मे धारणाशक्ति का विकास हुआ था। आज धार्मिक मे भी यह विश्वास नही है कि धर्म उसे त्राण दे सकता है। वह धर्म के लिए त्राण की खोज मे है। एक व्यक्ति आचार्य तुलसी के पास आया। उसने कहा, 'मैं गीता को भूमिगृह मे गाड देना चाहता हू।' आचार्यश्री ने पूछा—'किसलिए?' उसने कहा—'अणुबम का युग है। अणुबमो का प्रयोग होने पर भी वह सुरक्षित रहेगी।' आचार्यश्री ने कहा—'जब मनुष्य ही नही रहेगा तो उसे पढेगा कौन?' सचमुच यह गम्भीर प्रश्न है। कुछ धार्मिक इस चिंता मे हैं कि साम्यवाद आ गया तो धर्म का क्या होगा? कुछ इस चिंता से त्रस्त हैं कि विज्ञान ऐसे रहस्य उद्घाटित कर रहा है, जिनसे धर्म की आस्था विलीन हो जाएगी। इस चिन्ता-भूमिकाओ मे धर्म असहाय-सा प्रतीत हो रहा है। वह वास्तव मे ही इतना दुर्बल है तो हमे उसकी आवश्यकता नही है। जो अपना त्राण अपने आप मे नही ढूढ सकता, उसे विश्व के रगमच पर रहने का अधिकार नही है।

धर्म इतना अत्राण क्यो बना? वह इतना पुराना क्यो बना? इस प्रश्न के उत्तर मे तीन तथ्य सामने आते हैं

१ शास्त्रो के प्रामाण्य से धर्म के अस्तित्व का निर्णय।

२ केवल पारलौकिकता के आधार पर धर्म की प्रतिष्ठापना।

३ कर्मवाद या भाग्यवाद की एकागी दृष्टि का समर्थन।

१ अहिंसा परम धर्म है, अपरिग्रह महान् धर्म है। ऐसा क्यो है? इसका उत्तर बहुत सरल है—उत्तराध्ययन-सूत्र मे ऐसा लिखा है, गीता मे ऐसा लिखा है, धम्मपद मे ऐसा लिखा है। उन शास्त्रो मे लिखा है, इस-लिए अहिंसा और अपरिग्रह धर्म है। क्या हर धार्मिक को इसका अनुभव है कि अहिंसा और अपरिग्रह महान् धर्म है? यदि यह अनुभव है तो वह

ास्त्र का प्रामाण्य दिए विना ही अहिंसा और अपरिग्रह की अच्छाई स्थापित कर सकता है। यदि उसे वैसा अनुभव नही है तो वह शास्त्र का ामाण्य प्रस्तुत करके भी उनसे स्वय लाभान्वित नहीं हो सकता। आचाय सेद्धसेन ने कहा है—हेतु से अगम्य सूक्ष्म सत्य का समथन शास्त्र से और हेतुगम्य सत्य का समर्थन हेतुवाद से करना चाहिए। जो ऐसा करता है, वह सत्य का समीचीन व्याख्याता है। जो अहेतुगम्य के लिए हेतु का प्रयोग करता है, हेतुगम्य सत्य के लिए शास्त्र का प्रयाग करता है, वह सत्य का समीचीन व्याख्याता नही है।

आचाय सिद्धसेन ने उक्त प्रतिपादन तकवाद के प्रागण मे उपस्थित होकर किया था। मैं उसी तथ्य को अनुभववादी भाषा मे पुनरावृत्त करना चाहता हू कि सूक्ष्म सत्य का समथन शास्त्र से और आचरणीय सत्य का समथन अनुभव मे करना चाहिए। जो ऐसा करता है, वह सत्य की समीचीन व्याख्या प्रस्तुत करता है। जो अनुभवगम्य सत्य की व्याख्या शास्त्रीय प्रामाण्य से करता है, वह प्रत्यक्ष पर परोक्ष का आवरण डाल देता है।

२ धम के साथ जैसे परलोक का प्रश्न जुडा हुआ है, वैसे इहलोक का प्रश्न जुडा हुआ नही है। धार्मिक व्यक्ति धम को जितना परलोक के सदभ मे देखता है उतना इहलोक के सदभ मे नही देखता। वह भविष्य का जितना मूल्य आकता है, उतना वतमान का नही आकता। वह इस प्रसग मे 'दीर्घ पश्यत मा ह्रस्व' की नीति को क्रियान्वित कर रहा है। धर्म के पारलौकिक सदर्भ मे समस्याओ का समाधान ढूढना असम्यक् नही है। किंतु सामयिक समस्याओ के सदभ को भुलाकर केवल पारलौकिक सदर्भ मे समाधान ढूढना एकागी कोण है।

३ कर्मवाद का सिद्धात बहुत वैज्ञानिक है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, उसे अमान्य नही किया जा सकता। कमवाद को पुरुषाथ का प्रेरणा-स्रोत होना चाहिए। पर वह वैसा नही है। वतमान भारत की गरीबी और दु खद स्थिति का एक हेतु कमवादी दृष्टि का विपयय है। भाग्यवाद की आधी से पुरुषाथ की ज्योति बुझ गई है। कर्मवाद का एकागी

नदी पार करने के बाद नौका की क्या आवश्यकता है? साधन एक सीमा तक उपयोगी होते हैं, सर्वत्र और सवदा नही।

जब तक अज्ञात है, तब तक धम की आवश्यकता है। विज्ञान की उल्लेखनीय प्रगति के बाद भी जानना बहुत शेप है। न्यूटन ने कहा था— दुनिया मेरे बारे मे कुछ ही सोचती होगी किन्तु मेरी स्थिति उस बच्चे के समान है जो समुद्र के तट पर खडा-खडा सीपियो को बटोर रहा है।

पहले ज्ञान होता है, फिर श्रद्धा होती है। श्रद्धा ज्ञान का घनीभत रूप है। पानी का घनीभूत रूप बफ और दूध का घनीभूत रूप दही है। जो धम को नही जानते, वे कहते ह, धम के प्रति हमारी श्रद्धा है। यह कैसे हो सकता है? क्या पानी के बिना बफ और दूध के बिना दही हो सकता है?

जो भौतिक उपकरणो से प्राप्त होता है, वही धम से प्राप्त हो, उसके अतिरिक्त कुछ न हो तो फिर धर्म को मानने का आधार क्या है?

जब तक मैं हू तब तक धर्म का अस्तित्व रहेगा। जब मैं अपने अस्तित्व से दूर रहता हू, तब धम नष्ट हो जाता है, किसी साम्यवादी द्वारा नही, अपने आप द्वारा।

समाज की दो समस्याए हैं—आत्त और प्रमाद। आत्त का उपचार पदाथ का उत्पादन है। प्रमाद की समस्या का समाधान केवल धम है।

धम कभी पहले प्रिय रहा हो, आज तो नही है। लोह पर मोर्चा मार गया है। उसमे काटने की शक्ति नही है। मकान जीण-शीण हो गया है, उसमे शरण देने की क्षमता नही है।

धम से जो प्राप्त होना चाहिए, वह नही हो रहा है। दवा स्वास्थ्य-लाभ के लिए ली जाती है। लाभ न होने पर भी कोई आदमी दवा लेता ही जाए, यह क्या समझ?

हम ऐसे ज्ञान मे भर जाए, जिससे आचार स्वय प्रस्फुटित हो।

अणुव्रत धम तो है किन्तु सदमहीन और निर्विशेपण। अणुव्रत अपनी —— नक सत्ता के कारण धम है। व्रत का अर्थ है पर्दा, आच्छादन। सर्दी,

गर्मी, धूप, आंधी और आदमी से आदमी का बचाव करने की आवश्यकता अनुभूत हुई तब घर का निर्माण हुआ।

अशान्ति और क्लेश से बचाव की आवश्यकता हुई, तब मनुष्य ने व्रत का अनुसंधान किया।

छिलका रहा है, रस सूख गया है। रस्सियो का ताना बना रहा है, पाल उड गया। क्या छिलके से तृप्ति होगी? क्या रस्सियो से छाह होगी?

चेतना निर्मल, उज्ज्वल और विशद है। उसे साफ करने की आवश्यकता नही है। जो गन्दगी मिली है, उसे निकाल फेको, फिर पानी अपने आप मे स्वच्छ है। बाहर से आने वाली गदगी को रोको, फिर चेतना अपने आप मे स्वच्छ है।

व्रती बनाया नही जा सकता, व्यक्ति स्वय बनता है। चमडी हमारे शरीर का व्रत है। यदि वह नही होती तो हमारे स्नायुओ का क्या होता? छिलका आम का व्रत है। यदि वह नही होता तो आम-रस का क्या होता? चमडी को कौन कहने गया कि तुम्हे स्नायुओ की रक्षा करनी है? छिलके को कौन कहने गया कि तुम्हे रस की सुरक्षा करनी है? प्रकृति की हर वस्तु अपना व्रत साथ लेकर ही उत्पन्न होती है। न जाने क्यो मनुष्य का यह मानस ही ऐसा है, जो अपनी सुरक्षा को साथ लिए उत्पन्न नही होता।

एक आदमी ने पूछा—इस अनैतिकता के युग मे अणुव्रत सफल होंगे? मैंने कहा—दीए की सफलता अमावस की अधेरी रात मे ही होती है, सूर्य के प्रकाश मे नही। अधेरा कितना ही सघन और कितना ही पुराना हो, दीप जलते ही भाग जाता है।

आचार्य तुलसी के पास कुछ नही है, किन्तु सग्रह करने वाले आचार्यश्री के पास आते हैं। यह सग्रह की असग्रह की ओर गति है। यह अध्यात्म की शक्ति है। ऐसी स्थिति का निर्माण आवश्यक है, जिसमे असग्रह सग्रह की ओर न जाए, अहिंसा हिंसा की धारा मे न मिले।

स्थिति और चलना दोनो अपने-अपने क्षेत्र मे उपयोगी है। हमे स्थिति

भी मान्य है, परम्परा भी मान्य है। एक वग स्थिति और परम्परा को समाप्त करना चाहता है, दूसरा उससे चिपके रहना चाहता है। ये दोनो ही ठीक नही है। हमे चलने के लिए धरती चाहिए पर पैर धरती से चिपक जाए, क्या यह हमे मान्य होगा ? दीवार का सहारा ले सकते हैं पर उससे शरीर चिपक जाए, क्या यह हमे मान्य होगा ?

आज शरीर और सम्पदा की भाति धम भी पैतृक हो रहा है पर ऐसा नही होना चाहिए।

९ क्या धर्म श्रद्धागम्य है ?

एक आदमी हाथ मे घडा ले समुद्र के तट पर गया। एक ओर समुद्र मे जल है, दूसरी ओर घडा है। क्या घडे द्वारा समुद्र का जल ग्राह्य है ? यदि मैं कहू ग्राह्य नही है तो यह कहना सचाई से परे होगा। यदि कहू ग्राह्य है, तो यह अपूर्ण सत्य होगा। वह ग्राह्य है भी और नही भी। समग्रता की दृष्टि से ग्राह्य नही है। व्यग्रता की दृष्टि से ग्राह्य है। घडे मे जितनी क्षमता है, उतना वह समुद्र को रिक्त भी कर सकता है।

धम बुद्धि के द्वारा ग्राह्य है, यह कहना कठिन है। ग्राह्य नही है, यह कहना भी सरल नही है।

धर्म अनन्त है, उसको बुद्धि के द्वारा ग्राह्य मानना घडे के द्वारा समुद्र को मापना है। अनन्त सत्य का ग्रहण अनन्त ज्ञान के द्वारा हो सकता है। तव यह प्रश्न ही क्यो उपस्थित हुआ—'क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?'

बुद्धि हमारे ज्ञान की एक सीमा-रेखा है। प्राणिमात्र मे ज्ञान का यत्किचित मात्र अस्तित्व होता ही है। एकेन्द्रिय प्राणी मे भी सुख-दु ख की अनुभूति होती है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवों मे ज्ञान का तारतम्य है। प्राणियो मे मनुष्य सवसे अधिक ज्ञान का अधिकारी है। इन्द्रिया मनुष्य के पास हैं तो अन्य प्राणियो के पास भी हैं। मन भी अन्य

है। श्रद्धालु भी बुद्धि-शून्य नही होता। वह उसी की बात को मानता है जिसमे उसकी बुद्धि स्थिर हो गई है। बच्चा अपनी माता की बात मानता है, चाहे वह जो कुछ भी कहे।

श्रद्धा अधी होती है, क्या यह सत्य है? अधा यानी अज्ञान। श्रद्धा हमेशा बुद्धि द्वारा प्रवाहित होती है। जो तीव्र प्रवाह घनीभूत होकर बहता है, वही श्रद्धा है।

ज्ञान के बिना श्रद्धा हो ही नही सकती। पानी के बिना बर्फ नही होती। दही दूध का ही सघन रूप है। वैसे ही ज्ञान का घनीभूत रूप श्रद्धा है। जहा बुद्धि अभिव्यक्ति मे अल्पक्षम होती है, वहा अन्तःस्तल म स्वीकार होता है।

धम बुद्धि के द्वारा ही गम्य होता है पर अबुद्धि के द्वारा नही।

स्थूल दृष्टि मे धम का सम्बन्ध श्रद्धा से अधिक है, बुद्धि मे कम। गहराई मे धम का सम्बन्ध बुद्धि के बिना होता ही नही। कोई श्रद्धावादी बुद्धिहीन नही है और कोई बुद्धिवादी श्रद्धाशून्य नही है। ज्ञान और श्रद्धा दोनो ही हमारे मापदण्ड हैं। फिर एक ही प्रश्न क्यो—क्या धर्म बुद्धिगम्य है? दूसरा भी प्रश्न होना चाहिए—क्या धम श्रद्धागम्य है?

१० धर्म और उपासना

धम के लिए सबसे बडी समस्या उसे सस्थागत रूप मे स्वीकार करना है। जीवन-व्यवहार मे धम के सम्बन्ध मे विचार करते समय दो बातें सामने होती हैं

१ उपासनागत धम।

२ आचारगत धम।

उपासनागत धम मे समानता का अभाव है क्योकि उपासना की अनेक पद्धतिया हैं, परन्तु आचारगत धर्म मे समानता है। सामान्य व्यक्ति उपा-

सना को अधिक समझता हुआ धर्म को कम समझता है। लोग कहते हैं कि भक्ति-मार्ग सरल और अच्छा है। एक दृष्टिकोण से यह सही भी हो सकता है, किन्तु वंचना की गुंजाइश भी इसी में सबसे अधिक है। व्यक्ति दिन-भर के पापों को मूर्ति के सामने जाकर एक वाक्य—'प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो' में धो लेना चाहता है। सारी जिन्दगी के पाप-कर्म एक बार गंगा-स्नान कर धो लेने की असफल कोशिश करता है। वस्तुतः उपासना इसलिए थी कि साधारण व्यक्ति प्रतीक के रूप में अपना ध्यान केन्द्रित कर सके किन्तु कालान्तर में वही भक्ति मार्ग वंचना का प्रमुख केन्द्र बना। इसके विपरीत आचार-मार्ग में इसकी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि व्यक्ति की आत्मिक पवित्रता ही उसका आधार है।

उपासना में आचार-शुद्धि की बात गौण है। आराधना स्वयं प्रवंचना नहीं है, किन्तु उसे प्रवंचना का रूप दे दिया गया। गंगा-स्नान, मन्दिर, सत-दर्शन, सेवा आदि उपासना की पद्धतियां विशेष अर्थ के रूप में ठीक थीं किन्तु प्रकारान्तर से लोगों ने समझ लिया कि चाहे जितना पाप करते रहें कभी-कभी यह उपासना करके सारे पापों से मुक्त हो लेंगे, उन्हें धो लेंगे। इस प्रकार की धारणाबद्ध उपासना से धर्म का तत्त्व उससे दूर होता जाता है।

स्वतन्त्र कर्तृत्व का विकास नीतिवाद के सहारे हुआ। अणुव्रत के साथ उपासना नहीं जुडी, चरित्र जुड़ा। यह नितान्त नीति की शृंखलता से बंधा है। मध्यकाल में मूलतः जितना बल उपासना-मार्ग पर दिया गया उतना चरित्र-मार्ग पर नहीं दिया गया। उपासना लोगों को प्रिय लगी किन्तु विगत पन्द्रह सौ वर्षों का इतिहास बताता है कि इससे चरित्र का ह्रास हुआ है। दक्षिण से लेकर उत्तर-भारत तक मन्दिरों की स्थिति देखें तो उनमें चित्रित अश्लीलता देखकर अवाक् रहना पड़ता है। इसमें वाममार्गी तान्त्रिकों का प्रभाव भी एक कारण रहा किन्तु वह भी आचार-वाद को प्रोत्साहन नहीं मिलने के कारण ही हुआ।

छाया के लिए आचार को पात्र समझें और उपासना उसे धारण

वाली रस्सी। स्थिति यह हुई कि पाल तो उड गया है और केवल रस्सी रह गई है। उपासना व्यथ नही है किन्तु वह आवरण वन गई और जहा चरित्र तक पहुचना था वहा पहुच ही नही सके। मन्दिर, सत-दशन आदि से धम-भावना जागृत होती है यह इसके मूल म आशय था किन्तु इसे स्वीकार इस रूप मे किया गया कि मन्दिर म जाने, सत-दशन वरन आदि के वाद शेप कुछ भी नही रहा। आचार गौण कर केवल उपासना म ही उलझ गए। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनका उपासना मे विश्वास नही किन्तु वे चरित्रवान हैं। वे वस्तुत धार्मिक है। प्रो० गोरा स्वय को नास्तिक मानते हैं किन्तु गाधीजी उन्हे पक्का आस्तिक मानते थे, क्योकि प्रो० गोरा का आचार शुद्ध और आध्यात्मिक है।

जहा उपासना पर अधिक वल दिया जाता है वहा चरित्र पर कम जोर दिया जाता है। इसके विपरीत आचारवादियो ने उपासना को कम महत्त्व दिया है। उपासना की पद्धतिया अलग-अलग रहगी किन्तु आचार मे भेद नही होता है। आचाय निरजनसूरी ने इन्द्रिय, प्राण, मन, पवन और तत्त्व, इनकी समता का नाम अध्यात्म योग कहा है। हम धम मे भी प्रियता पसद करते हैं, अत धार्मिक क्षेत्र मे सगीत, कला, नृत्य आदि को मन्दिरो म प्रश्रय दिया गया और उपासना का उसे अनिवाय अग वना लिया गया। आचार मे प्रियता नहीं है।

मैं मूलत उपासना को धम मे वाधक नहीं मानता किन्तु धार्मिक की परिभाषा चरित्र के आधार पर होनी चाहिए। उपासना गौण है और चरित्र मुख्य। उपासना प्रतिक्षण नहीं हो सकती किन्तु आचार की स्थिति निरन्तर रह सकती है जैसे एक व्यक्ति जीवन-भर नैतिक, ईमानदार और प्रामाणिक रह सकता है, किन्तु उपासना समय-समय पर ही कर सकता है। यह सम्भव नही कि कोई व्यक्ति दो-चार घटे अप्रामाणिक रहकर पुन अवशिष्ट समय मे चरित्रवान वन जाए और उसे चरित्रवान मान लिया जाए। उपासना दवा है और आचार भोजन। भोजन सवदा किया जाता है किन्तु दवा हमेशा नही खायी जाती। उपासना पुष्टि के रूप मे है किन्तु आचार

वाली रस्सी। स्थिति यह हुई कि पाल तो उड गया है और केवल रस्सी रह गई है। उपासना व्यर्थ नही है किन्तु वह आवरण बन गई और जहा चरित्र तक पहुचना था वहा पहुच ही नही सके। मन्दिर, मत-दशन आदि से घम-भावना जागृत होती है यह इसके मूल मे आशय था किन्तु इसे स्वीकार इस रूप मे किया गया कि मन्दिर मे जाने, मत-दशन करने आदि के बाद शेष कुछ भी नही रहा। आचार गौण कर केवल उपासना म ही उलझ गए। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनका उपासना मे विश्वास नही किन्तु वे चरित्रवान हैं। वे वस्तुत धार्मिक हैं। प्रो० गौरा स्वय को नास्तिक मानते हैं किन्तु गाधीजी उन्हे पक्का आस्तिक मानते थे, क्योकि प्रो० गौरा का आचार शुद्ध और आध्यात्मिक है।

जहा उपासना पर अधिक बल दिया जाता है वहा चरित्र पर कम ज़ोर दिया जाता है। इसके विपरीत आचारवादियो ने उपासना को कम महत्त्व दिया है। उपासना की पद्धतिया अलग-अलग रहेगी किन्तु आचार मे भेद नही होता है। आचार्य निरजनसूरी ने इन्द्रिय, प्राण, मन, पवन और तत्त्व, इनकी समता का नाम अध्यात्म योग कहा है। हम घम मे भी प्रियता पसद करते हैं, अत धार्मिक क्षेत्र मे सगीत, कला, नृत्य आदि को मन्दिरो मे प्रश्रय दिया गया और उपासना का उसे अनिवाय अग बना लिया गया। आचार मे प्रियता नही है।

मैं मूलत उपासना को घम मे बाधक नही मानता किन्तु धार्मिक की परिभाषा चरित्र के आधार पर होनी चाहिए। उपासना गौण है और चरित्र मुख्य। उपासना प्रतिक्षण नही हो सकती किन्तु आचार की स्थिति निरन्तर रह सकती है जैसे एक व्यक्ति जीवन-भर नैतिक, ईमानदार और प्रामाणिक रह सकता है, किन्तु उपासना समय-समय पर ही कर सकता है। यह सम्भव नही कि कोई व्यक्ति दो-चार घटे अप्रामाणिक रहकर पुन अवशिष्ट समय मे चरित्रवान बन जाए और उसे चरित्रवान मान लिया जाए। उपासना दवा है और आचार भोजन। भोजन सवदा किया जाता है किन्तु दवा हमेशा नही खायी जाती। उपासना पुष्टि के रूप मे है किन्तु आचार

सहज धर्म है। यदि वह नहीं रहता उपासना का मूल्य नहीं।

आचार-शुद्धि की पृष्ठभूमि अपनी पवित्रता और दूसरे के प्रति संवेदन शीलता है। अपनी आचारिक पवित्रता में जंग नहीं लगने देना उपासना की पृष्ठभूमि है। यह सही है कि उपासना धर्म की सवारनी है किन्तु मूल-धर्म अर्थात आचार ही है। अर्थात उपासना का आवरण रूप हटाकर प्रेरक रूप रखना है। इतना होते हुए भी उपासना को अणुव्रत के साथ नहीं जोड़ना है क्योंकि ऐसा होने से यह भी सम्प्रदाय बन जाएगा। जिस दिन आचार के साथ उपासना जुड़ती है उसी दिन से सम्प्रदाय रूप धारण करते हैं।

अब व्यवहार धर्म के प्रश्न को समझें। धर्म-व्यवहार में आना तभी सम्भव होगा जब हम उपासना के दृढ़ संस्कारों को थोड़ा झकझोरें। नीचे आचार की भूमि के अभाव में उपासना तारने वाली नहीं है। व्यवहार दो प्रकार के होते हैं

१ जिनका दूसरों पर प्रत्यक्ष प्रभाव न हो।

२ जिनका दूसरों पर प्रत्यक्ष प्रभाव होता हो।

व्यवहार ही धार्मिकता की कसौटी है। प्रामाणिकता हमारा व्यवहार-गत धर्म है, क्योंकि उसकी आस्था बन गई है कि ऐसा न करना आत्म-पतन है। व्यवहार की चुनौती को जब तक धार्मिक स्वीकार नहीं करेगा तब तक अन्य को कार्य की प्रेरणा नहीं मिल सकेगी और न धर्म का तेजस्वी रूप ही स्पष्ट होगा। उपासना मार्ग के स्वरूप को थोड़ा अलग करके और स्वयं में अध्यात्म जागरण से ही धर्म व्यवहारगत हो सकता है। इसके बाद धर्म का उपदेश देने की जरूरत नहीं रहेगी।

भारतीय चिन्तन विगत शताब्दियों में कुंठित हो गया, फलतः नया उन्मेष कम आया है। आचारहीन उपासना हमेशा खतरनाक है। आज नया चिन्तन आ रहा है जिसे रोका भी नहीं जा सकता। कोरी उपासना के आधार पर कोई भी धर्म नहीं टिक सकता।

११ धर्म की परिभाषा

धम का इतिहास बहुत पुराना और दीर्घकाल तक रहने वाला है। जीवन और मृत्यु के रहस्य जब तक रहेंगे तब तक धम रहेगा। धम को समाप्त करने का प्रयास करने वाले थक गए हैं और इसके विपरीत धम का प्रचार अधिक ही हुआ है। रूस पिछले पैंतीस वर्षों से धम नष्ट करने का प्रयास करता रहा है किन्तु अब वहां का सत्तारूढ दल यह स्वीकार कर चुका है कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी धम कम होने की अपेक्षा बढा है। रूस मे इन पिछले पैंतीस वर्षों मे धार्मिक श्रद्धा बढी है।

धम मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अज्ञात के विषय मे चिन्तन करने मे धम से मनुष्य को सहारा मिलता है। धम हमारी आत्मा की पवित्रता है अर्थात् कषाय-मुक्ति या राग-द्वेष से मुक्त होना धम है। शेष सारा प्रपंच है। अपने स्वभाव मे रहना धम है। धम के कारण विभीषिका, युद्ध और हत्याकाड नही हुए है। जहा अतिरिक्त मूल्य होता है उसके आसपास लडाइया होती हैं। जैसे आज राजनीति का अतिरिक्त मूल्य बढा है, फलत उसके लिए लडाइया होती हैं। इसी प्रकार पहले धम का अतिरिक्त मूल्य था अत उसके आसपास लडाइया हुई।

धम और उसका सस्थान ये दो बातें हैं। धम अरूप और अमूर्त है किन्तु मनुष्य मूर्त चाहता है। मनुष्य ने ज्ञान का मूर्त पुस्तकें, काल का मूर्त घडिया और भगवान् का मूर्त प्रतिमा को बना लिया। यही धम के साथ हुआ है। उसने धम को भी एक रूप दिया है। यही से प्रतीकवाद चला। राष्ट्र अमूर्त है किन्तु झडे के रूप मे उसका प्रतीक बना लिया गया है। धम का मूर्त रूप मनुष्य ने सस्थान बना लिया। उपनिषद् मे वर्णन आता है—"परमात्मा का अकेले मन नही लगा अत द्वन्द्व पैदा किया और आत्मा का विस्तार कर नाम और रूप के आधार पर सृष्टि पैदा की।" नाम और रूप का यही आकर्षण अमूर्त को मूर्त बनाता है।

जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई, हिन्दू आदि सभी नाम हैं और उसकी संस्थाएं धर्म का रूप है। धर्म अमूर्त है, किन्तु नाम और रूप के द्वारा वह हमारे सामने आता है इसीलिए हर धर्म का अपना नाम और रूप है। लड़ाई इसी नाम और रूप के लिए हुई है। धर्म के लिए कभी भी युद्ध नहीं हुए। जैन धर्म मे पन्द्रह प्रकार के सिद्ध माने गए हैं जिनमें स्व-लिंग-सिद्ध, अन्य-लिंग-सिद्ध और गृह-लिंग-सिद्ध—इन तीन सिद्धों का वर्णन भी मिलता है। जैन वेश में सिद्ध होने वाले स्व-लिंग-सिद्ध, अन्य किसी भी वेश मे सिद्ध होने वाले अन्य लिंग-सिद्ध और गृहस्थ के वेश मे सिद्ध होने वाले गृह-लिंग-सिद्ध कहे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष मे ही बँधा हुआ नहीं है, क्योंकि सम्प्रदाय वेश के अतिरिक्त गृहस्थ के वेश तक मे भी सिद्ध होना सम्भव है।

चूंकि धर्म हमारी आत्मा की पवित्रता है अत आत्म-पवित्रता मे किसी को मतभेद नहीं है, केवल क्रियाकाण्डो मे भेद आता है। जैन-दर्शन के 'नैगम-नय' मे प्रश्नोत्तर है—'तुम कहा रहते हो ?'—'जम्बू द्वीप मे।' 'जम्बू द्वीप मे कहा रहते हो ?'—'भारतवर्ष मे।' 'भारत मे कहा रहते हो ?' 'अमुक राज्य मे।' 'अमुक राज्य मे कहा रहते हो ?' 'अमुक नगर मे।' 'अमुक नगर मे कहा रहते हो ?'—'अमुक मुहल्ले मे।' 'अमुक मुहल्ले मे कहा रहते हो ?'—'अमुक नम्बर के मकान में'। 'अमुक नम्बर के मकान के किस कमरे मे रहते हो ?' 'अमुक कमरे मे।' 'अमुक कमरे में सर्वत्र तो नही रहते होगे ?' अन्तिम निष्कर्ष निकलता है और जवाब मिलता है कि मैं आत्मप्रदेश मे रहता हूं। वस्तुत अपने स्वभाव में रहना धर्म है और स्वभाव से बाहर जाना अधर्म है। भगवान् महावीर ने चार विकल्प किये हैं

१ कोई व्यक्ति धर्म छोडता है, संस्थान नहीं छोडता।

२ कोई संस्थान छोडता है धर्म नही छोडता।

३ कोई धर्म और संस्थान दोनो छोडता है।

४ कोई धर्म और संस्थान दोनो रखता है।

१२ यम और नियम

खेती की सुरक्षा के लिए वाड और जल की सुरक्षा के लिए पाल की जाती है। वाड की उपयोगिता तभी है, जब खेती लहलहा रही हो और पाल की उपयोगिता तभी है, जब वाध मे जल हिलोरें भर रहा हो। जिस खेत मे खेती नही, वहा वाड के होने और न होने मे क्या कोई अन्तर होगा ? जिस बाध मे पानी नही, वहा पाल के होने और न-होने मे क्या कोई अन्तर होगा? वाड और पाल का अपने आप में कोई उपयोग नहीं है। उनका उपयोग खेती और जल के होने पर ही है। नियम का उपयोग भी यम के होने पर है। यम पाच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियमो की तालिका लम्बी हो सकती है।

जव-जव यमो पर पटाक्षेप होता है और नियम रगमच पर आ जाते हैं, तव धर्म और धार्मिक निस्तेज वनता है। जव-जव यम प्रथम और नियम द्वयम् होते हैं, तव धर्म और धार्मिक का तेज वढता है।

आज धर्म की शक्ति इसीलिए क्षीण-सी प्रतीत हो रही है कि उसमे यम की अनिवार्यता समाप्त हो गई है, नियम अनिवार्य वन गए हैं। एक आचार्य ने वहुत ही मार्मिक शब्दो में लिखा है—

'यमा न भीक्ष्ण सेवेत, न नित्य नियमान् वुध ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो, नियमान् केवलान् भजन् ॥'

यमो का प्रतिदिन आचरण करो और नियमो का आचरण कभी-कभी। जो व्यक्ति यमो का प्रतिदिन आचरण नही करता, वह भटक जाता है और वह भी भटक जाता है, जो केवल नियमो का आचरण करता है। नैतिकता की विषम स्थिति के समीकरण का सूत्र है, यमो और नियमो का समजस आचरण।

१३ व्रत और राष्ट्र

व्रत भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड रहा है। जिस समाज में संकल्प की शक्ति नहीं होती, वह समाज शिष्ट नहीं होता। संकल्प-शक्ति का विकास व्रत से होता है। इसीलिए व्रत सारे भारतीय जीवन का केन्द्र-बिन्दु है।

जितने भी तीर्थंकर और अवतार हुए हैं, उन सबने व्रत का प्रतिपादन किया है। ऐसा एक भी धर्म नहीं है जिसमें व्रत न हो। व्रत को केन्द्र मानकर व्यक्ति उसकी परिधि में घूमता है। कोल्हू का बैल दीखने में निकम्मा-सा लगता है। दिनभर चलकर भी एक फर्लांग आगे नहीं बढ़ता। एक संकल्प के साथ घूमने वाला बैल तेल निकालने में योग देता है। इसमें गति का परिणाम संक्षेप होने पर भी शून्य नहीं है। गति का विस्तार हो और परिणाम कुछ भी न हो, वह असफलता होती है। किन्तु जहां परिणाम हो, वहां असफलता नहीं होती।

जहां आत्मानुशासन का विकास होता है वहां छिपकर काम करने की भावना नहीं उठती। व्यक्ति में अपने निर्माण का विश्वास नहीं है, इसीलिए राष्ट्र में तेज नहीं आ रहा है। धर्म की परिधि, जो घेरा मात्र बन गया है को तोड़ने की ओर गति नहीं होगी तो व्यक्ति की महानता प्रकट नहीं होगी। व्यक्ति की महानता के बिना राष्ट्र की महानता भी व्यक्त नहीं होगी।

१४ व्रत की शक्ति

मनुष्य दो खिड़कियों के बीच जी रहा है। एक खिड़की बाहर की ओर खुलती है, दूसरी भीतर की ओर। बाहर की खिड़की खुली है भीतर की खिड़की बन्द है। दोनों के बीच में मनुष्य का व्यवहार चलता है।

बाहर की खिडकी से जो आ रहा है, वह साम्य नही है। बाहर से जो आता है, वह है दण्ड-शक्ति। दण्ड-शक्ति मे राज्य-शक्ति और समाज-शक्ति चलती है। बाहर की खिडकी यदि बन्द हो जाए तो नैतिकता का उदय हो जाए। भीतर की खिडकी मे कर्तव्य की बात प्राप्त होती है, जो मनुष्य के अन्तराल मे दबी हुई है। जो भीतरी खिडकी से अपरिचित है, वे दण्ड-शक्ति मे परिचित हैं।

मनुष्य पशु नही है। पशु को दण्ड शक्ति से हाका जाता है। हम प्रति-दिन देखते हैं कि नदी से गधो पर रेत लादकर लायी जाती है और उन्हे डण्डे से मारा जाता है। वे पशु है। क्रान्ति कर नही सकते और सरकार के सामने अपना विरोध भी नही कर सकते। मनुष्य के पास स्मृति है और प्रतिरोध की शक्ति है। इसलिए वह ऐसा अन्याय नही सह सकता। उसे दण्ड-शक्ति से हाका नही जा सकता। जिस देश मे मनुष्य को हाका जाता है, वह पशुओ का देश है। पाशविक सत्ता म ऊपर उठने के लिए मनुष्य ने जिस सत्ता की सृष्टि की, वह व्रत है।

दिलीप राजा महर्षि वशिष्ठ की गाय को चरा रहा था। सामने सिंह आ गया। उसे देख राजा गाय की सुरक्षा के लिए आगे आ गया। उसे ऐसा करते देख सिंह ने कहा—

एकातपत्र जगत प्रभुत्व, नव वय कान्तमिद वपुश्च।
अल्पस्य हेतो बहु हातुमिच्छन्, विचारमूढ प्रतिभासि मे त्वम।

—तुम्हे एकछत्र राज्य प्राप्त है। यौवन और सुन्दर शरीर प्राप्त है। गाय को बचाने के लिए इन्हे खो रहे हो—अल्प के लिए बहुत को गवा रहे हो। मुझे लग रहा है, तुम विचार-मूढ हो।

यदि कोई स्वार्थी होता तो कभी का भाग जाता। पर राजा भागा नही। उसने सिंह से कहा—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्र, क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ।
राज्येन कि तद् विपरीतवृत्ते, प्राणै रुपक्रोशमलीमसै र्वा॥

—मैं क्षत्रिय हू। क्षत्रिय कुल मे जन्मा हू। क्षत्रिय का कर्तव्य है कि

जो कष्ट मे पड़ा हो, उसकी रक्षा करे।

राजा प्राणो की बलि देने को तैयार था। वह दण्ड-शक्ति की प्रेरणा नही थी। अपितु भीतर से आलोक आ रहा था और उसे कर्तव्य का बोध दे रहा था। कर्तव्य-बोध से आगे आत्मिक-बोध की सत्ता है। व्रत मे बाह्य दबाव या विवशता नही होती। आन्तरिक चेतना उद्बुद्ध होती है, इसमे व्यक्ति अकर्तव्य कर नही सकता।

ढाई हजार वर्ष पहले मगध का शासन सम्राट् श्रेणिक के हाथो मे था। वहा कालसौकरिक कसाई रहता था। वह प्रतिदिन पाच-सौ भैंसें मारता था। कसाई के पुत्र का नाम सुलस था। वह पिता से विपरीत वृत्ति का था। कालसौकरिक का देहावसान हुआ। कौटुम्बिक उत्तराधिकार सौंपने का समय आया। उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार लेने से पूर्व एक भैंसे की बलि देनी होती है। सुलस ने कहा—यह मुझे मान्य नही है। मैं ऐसा नही कर सकता। परिवार की ओर से दबाव डाला गया तो सुलस ने स्वीकार कर लिया। भैंसा सामने खड़ा है। परिवार के लोग अभिषेक करने के लिए सज्जित हैं। सुलस के हाथ मे तलवार दी गई और कहा—भैंसे को मारो। जिस व्यक्ति की चेतना जाग्रत हो गई, स्वाभाविक व्रत का उदय हो गया, वह ऐसा काम कैसे कर सकता है? सुलस ने तलवार चलाई। भैंसे पर नही, पर अपने पैरो पर।

लोग कहने लगे— इतना कायर आदमी इस उत्तराधिकार के योग्य नही है। उसे अयोग्य घोषित कर दिया गया।

उसने ऐसा क्यो किया? इसलिए किया कि उसके मानस मे व्रत था। जिसके मानस मे व्रत का उदय हो जाए, उससे अन्याय नही हो सकता। जिसके मानस मे व्रत का उदय नही होता, वहा दण्ड-शक्ति आती है। जहा दण्ड-शक्ति आती है, वहा व्यक्ति बाहर से नियन्त्रित किन्तु अन्तर मे उच्छृंखल बन जाता है। व्रत व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना का प्रतिफलन है। जीवन मे व्रतो का आरोपण करना धर्म का उदय है। वह धार्मिक नही है, जिसके जीवन मे व्रतो का आरोपण नही है। व्रत सामाजिक, राष्ट्रीय और

व्यक्ति-चेतना का उदात्त स्वर है। चेतना में जो सुषुप्त शक्ति है, उसे जागृत करने से व्यक्ति का उदय होगा, समाज में व्रत की प्रतिष्ठा होगी और धार्मिकता जागृत होगी। यदि ऐसा हुआ तो जो बन्द खिड़की है, उससे आलोक प्रवाहित होता रहेगा।

१५ घेरे की शक्ति

व्रत जीवन को सीमित करता है। विकास का अर्थ है, विस्तार। सीने को तानने के लिए आकाश चाहिए। विकास देश-काल में ही हो सकता है। देश और काल के बिना किसी भी वस्तु की व्याख्या नहीं हो सकती। व्रत और विकास देखने में एक-दूसरे के विरोधी लगते हैं पर मैं देखता हूं, विरोध वास्तविक नहीं है। विरोध मनुष्य की दृष्टि में, ज्ञान और कल्पना में है। संसार में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जिसमें सह-अस्तित्व नहीं हो। वस्तुसत्ता में विरोध नहीं है, विरोध है व्यक्ति की दृष्टि में। यदि दृष्टि में सापेक्षता आ जाए तो विरोध कहीं नहीं है।

मेरे विचार में विकास सीमा में अधिक होता है। एक व्यक्ति पैरों से पन्द्रह-सत्रह मिनट में एक मील चलता है। यदि गति तेज हो तो दस-बारह मिनट में एक मील चल सकता है। राजस्थान से अहमदाबाद आने में आचार्यश्री को चार मास लगे हैं। आप वायुयान से दो घंटे में आ सकते हैं। ऐसा क्यों ? क्योंकि वायुयान गति-शक्ति का एक घेरा है। यदि वायुयान का घेरा न हो तो इतनी शीघ्रता से नहीं आया जा सकता। जो घेरे को तोड़ विकास चाहते हैं, वे अपने को समाप्त कर देते हैं। मैं देखता हूं कि मोटरकार में बैठा व्यक्ति पचास मील की गति से दौड़ा जा रहा है। क्या खुले पैरों से वह इतना दौड़ सकता है ?

प्रश्न होता है, क्या हम संकीर्णता को स्थान दें ? इस प्रश्न पर सापेक्ष-दृष्टि से विचार करें। संकीर्णता एकान्ततः दोषपूर्ण नहीं है। हम बहुत बार

हर बात को सकीर्ण कहकर टाल देते हैं। पर सीमा और सकीणता की मर्यादा को समझना आवश्यक है।

१६. क्षमा

एक सस्कृत-कवि कहता है—मुझे वह वस्तु बताओ जो दूध की तुलना कर सके। दूध पवित्र है, सहज मधुर है। उसे तपाया गया, विकृत किया गया, मथा गया, फिर भी वह स्नेह देता है।

स्नेह वही दे सकता है, जो प्रकृति से महान् है। स्नेह वही दे सकता है, जो समथ है। लघु और असमथ इसीलिए लघु और असमथ होता है कि उसमे स्नेह देने की क्षमता नही होती। लक्ष्मण ने सुग्रीव से कठोर वचन के लिए क्षमा मागी—

'मया त्व परुषाण्युक्त,
तत् क्षमस्व सखे! मम।'

लक्ष्मण असमथ नही थे। वह स्नेह की शून्यता को स्नेह से भर सकते थे, इसीलिए उनके मुह मे क्षमा का स्वर था।

सिन्धु-सौवीर के अधिपति उद्रायण ने उज्जयिनीपति चण्डप्रद्योत से क्षमा मागी। एक था बन्दी और दूसरा था बन्दी बनाने वाला। एक था पराजित और दूसरा था विजेता। उद्रायण ने कहा, "महाराज प्रद्योत, आज सम्वत्सरी का दिन है। यह मैत्री का महान् पव है। इस अवसर पर मैं तुम्हे हृदय से क्षमा करता हू। तुम मुझे हृदय से क्षमा करो।"

महावीर का मानना था कि एक छोटा हो और दूसरा बडा, उनमे मैत्री नही हो सकती। मैत्री समानता के धरातल पर हो सकती है। क्षमा दे और ले नही, तो देने वाला बडा और नही देने वाला छोटा हो जाता है। उनमे मैत्री नही हो सकती। मैत्री उनमे हो सकती है जो क्षमा दे और क्षमा ले।

महाराज प्रद्योत ने कहा, "क्या कोई वन्दी क्षमा द नकना ह ?" उद्रायण आगे वढा और प्रद्योत को मुक्त कर अपने वरावर विठा लिया। दोनो हृदय स्नेह की शृ खला से वध गए।

म्नेह का धागा एक और अविच्छिन्न है। उमम असख्य दिलो को एक साथ वाघने की क्षमता है।

उस दीप को वुझने मे कितनी देर लगेगी, जिममे म्नह वच नही रहा है।

उस पुष्प को मुरझाने मे कितनी देर लगेगी, जिसमे रम वच नही रहा है।

म्नेह जीवन के हिमालय का वह प्रपात है, जो गगा-यमुना वन वहता है और घरती के कण-कण को अभिपिक्त, अकुरित, पल्लवित और पुष्पित करता है।

स्नेह जीवन के सूय का वह प्रकाश है, जो गहन अधकार को भेदकर मानस की हर सतह को आलोक से भर देता है। जिसके जीवन की गहराई मे स्नेह की सरिता प्रवाहित नही है, वह क्या क्षमा करेगा ?

क्षमा का शब्दोच्चार क्षमा नही है। दुवलताओ तथा अल्पताओ को स्नेह की महान् धारा मे विलीन करने की क्षमता जो है, वही क्षमा है। गगा कितने गन्दे नालो को अपने मे मिला पवित्र वना लेती है। यह क्षमता किसी नाले की धारा मे नही हो सकती। क्षमा का अथ है स्नेह की असीमता, असीमता और इतनी असीमता कि जिसमे कोई भी भूल या कोई भी अपराध अपनी विशालता प्रदर्शित न कर सके। धम की आत्मा है स्नह, प्रेम या मैत्री। जो सूखा है, वह कठोर है। कठोरता और धार्मिकता अग्नि और जल की भाति एक साथ नही रह सकतीं। जो चिकना है, वह कोमल है। कोमलता और अधार्मिकता अग्नि और जल की भाति एक साथ नही रह सकती।

क्या आप मुझे उन धर्मों को धम कहने की स्वीकृति देंगे, जो मनुष्य को मनुष्य के प्रति कठोर वना रहे हैं, मनुष्य को मनुष्य का शत्रु वना रहे

है, मनुष्य के प्रति मनुष्य के मन मे घृणा भर रहे है और अपनी सुरक्षा या विस्तार के लिए मनुष्य मे मनुष्य की बलि माग रहे है। जो धर्म आत्मा की पवित्र वेदी मे हटकर जातीय परम्परा से एक रस हो जाता है, वह स्नेह के बदले रूक्षता की धार बहाता है और एकत्व के बदले विभाजन को बल देता है। ऐसे धर्मों से मनुष्य-जाति बहुत त्रास पा चुकी है। अब उसे उसी धर्म की अपेक्षा है जिसके अन्तस्तल मे स्नेह और वातावरण मे क्षमा का अजस्र स्रोत वह रहा है।

१७ मुक्ति

एक सस्कृत-कवि की सम्मति है कि इस दुनिया मे बन्धन बहुत है पर प्रेम-रज्जु जैसा गाढ बन्धन कोई नही है। भौंरा काठ को भेदकर निकल जाता है, किन्तु कोमलतम कमल-कोश को भेदकर नही निकल पाता।

सूर्यविकासी कमल था। मध्याह्न मे वह खिल उठा। एक भौंरा आया और उसके पराग मे लुब्ध हो गया। वह बार-बार उस पर मडराता रहा। अन्त मे उसके मध्य मे जाकर बैठ गया। सन्ध्या हो गई, फिर भी वह नही उडा। कमलकोश सिकुड गया और भौंरा उसमे बन्दी बन गया। प्रेम से कौन बन्दी नही बना ?

रक्त नही है, इसलिए वह दूमरो को वन्धन मे डाल अपना मनोरजन करता है।

एक आदमी की अपने पडोमी से अनबन हो गई। उमके मन मे क्रोध की गाठ घुल गई। वह जब कभी पडोमी को देखता, उसकी आखे लाल हो उठती। यह द्वेष का वन्धन है।

एक वुढिया शरीर मे कृश होने लगी। पुत्र ने पूछा, 'मा! क्या तुम्हे कोई व्याधि है?'

'नहीं, वेटा! कोई व्याधि नही है।

'फिर यह कृशता क्यो आ रही है?'

'वेटा! अपने पडोसी के घर म विलोना होता है, उससे मुझे वहुत पीडा होती है। मथनी की डडिया उम विलोने मे नही, मेरी छाती मे चलती है। इसलिए मेरा शरीर कृश हो रहा है।' यह ईर्ष्या का वन्धन है।

राजा ने कहा—'वकरी को खूव खिलाओ पर वह शरीर मे वढनी नही चाहिए।' गाववाले समस्या मे उलझ गए। रोहक ने माग ढूढ लिया। वकरी को शेर के पिजडे के पास ले जाकर वाध दिया। उसे चारा खूव देते। पर वकरी का शरीर पुष्ट नही हुआ। जैसे ही शेर दहाडता, उसका खाया-पिया हराम हो जाता। यह भय का वन्धन है।

एक आदमी किसी सेठ के पास गया। घर मे विवाह था। सेठ से कुछ सामग्री लेनी थी। सेठ से माग की तो वह वोला, 'ठहरो, अभी यहा कोई आदमी नही है।' आधा घटा वाद फिर माग की तो सेठ ने फिर वही उत्तर दिया। तीसरी वार माग की और वही उत्तर मिला। तव आगन्तुक ने कहा—'मैं तो आपको आदमी समझकर ही आपसे मागने आया था।' यह मानदण्ड का वन्धन है।

वाहरी वधनो की क्या वात कहू। अपने भीतर इतने वन्धन है कि उनसे निवटे विना वाहरी वन्धनो से निवटना, नही निवटने के समान हो जाता है।

मुझे मुक्ति प्रिय है, आपको भी प्रिय है, हर व्यक्ति को प्रिय है। किन्तु

दूसरो को बाधने की मनोवृत्ति का त्याग बिना क्या हम मुक्त रह सकते है ? अपने मे छोटे का मै बाधना हू, इसका अर्थ है, मैं अपने बडो से बधने का रास्ता साफ करता हू। आप बधना न चाहे, इसका अर्थ होना चाहिए कि आप दूसरो को बाधना न चाहे। बन्धन बन्धन का जन्म देता है और मुक्ति मुक्ति को। बाहरी बन्धनो से मुक्ति पाने की अनिवार्य शर्त है मानसिक मुक्ति, आन्तरिक मुक्ति।

१८ आर्जव

गौतम ने पूछा—'भन्ते ! आर्जव से मनुष्य क्या प्राप्त करता है ? भगवान् महावीर ने कहा—'गौतम ! आर्जव से मनुष्य काया की ऋजुता, भावो की ऋजुता, भाषा की ऋजुता और सवादी प्रवृत्ति—कथनी और करनी की

दूरी नहीं होती। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से विभक्त नहीं होता। एक संस्कृत-कवि ने कहा है—

'सद्वृत्ता सरला सूची, वक्रा छेदाय कर्तरी'—सुई सरल होती है, इसलिए जोड़ती है, दो को एक करती है और कैंची टेढ़ी होती है, इसलिए वह काटती है, एक को दो करती है।'

सरलता मनों को साधती है। माया कैंची का काम करती है, मनों के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है।

हमारे नीति-शास्त्रियों ने कहा है—'मनुष्य को बहुत सरल नहीं होना चाहिए। देखो, जो वृक्ष बहुत सरल-सीधे होते हैं वे काट दिए जाते हैं और जो टेढ़े होते हैं, वे नहीं काटे जाते।' इस नीति-वाक्य ने मानवीय हृदय में प्रचलित सहज दीप को बुझाने का काम किया है। मैं आपसे पूछना चाहता हूं, क्या आप टेढ़े शरीर वाले मनुष्य को पसन्द करते हैं? क्या आप टेढ़ी बात कहने वाले का विश्वास करते हैं? क्या अपने साथ कुटिल व्यवहार करने वाले को आप पसन्द करते हैं? क्या मन में कुटिलता रखने वाले को आप पसन्द करते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर नकार की भाषा में होगा अर्थात् आप उन्हें पसन्द नहीं करते हैं। तब यह कैसे माना जाए कि हमें बहुत सरल नहीं होना चाहिए? यदि हर आदमी का मन खुली पोथी जैसा होता तो मनुष्य मनुष्य से डरता ही नहीं। आज एक आदमी दूसरे आदमी से इसीलिए डरता है कि उसके मन में छिपाव है, घुमाव है, अस्पष्टता है और अन्धकार है।

हम भोले न हों—सामने की स्थिति का प्रतिबिम्ब लेने की स्वच्छता से वंचित न हों। हम मायावी भी न हों—अपने मन की कलुषता से सामने वाले के मन को कलुषित करने की दक्षता से सम्पन्न न हों। हम सरल हों—वातावरण के प्रति सजग हों, किन्तु दूसरों के प्रति मन में मलिन भाव न हो। जिसका मन सरल होता है, वह दूसरों से ठगा नहीं जाता। ठगा वही जाता है, जिसके अपने मन में मैल होता है।

एक बुढ़िया जा रही थी। सिर पर एक गठरी थी। उसी रास्ते से एक

दूसरों को बांधने की मनोवृत्ति का त्याग किए बिना क्या हम मुक्त रह सकते हैं ? अपने से छोटे को मैं बांधता हूं, इसका अर्थ है, मैं अपने बड़ों से बंधने का रास्ता साफ करता हूं। आप बंधना न चाहें, इसका अर्थ होना चाहिए कि आप दूसरों को बांधना न चाहें। बन्धन बन्धन को जन्म देता है और मुक्ति मुक्ति को। बाहरी बन्धनों से मुक्ति पाने की अनिवार्य शर्त है मानसिक मुक्ति, आन्तरिक मुक्ति।

१८ आर्जव

गौतम ने पूछा—'भन्ते ! आर्जव से मनुष्य क्या प्राप्त करता है ?' भगवान् महावीर ने कहा—'गौतम ! आर्जव से मनुष्य काया की ऋजुता, भावों की ऋजुता, भाषा की ऋजुता और संवादी प्रवृत्ति—कथनी और करनी की समानता को प्राप्त करता है।'

आर्जव का अर्थ है सरलता। सरलता वह प्रकाश-पुंज है, जिसे हम चारों ओर से देख सकते हैं। सरलता वह प्रकाश-पुंज है, जिससे हम चारों ओर से देख सकते हैं। भगवान महावीर ने कहा—'निर्मलता उसे प्राप्त होती है, जो ऋजु होता है। कपटी मनुष्य का मन कभी निर्मल नहीं होता। बच्चे का मन सरल होता है, इसलिए उसके प्रति सबका स्नेह होता है। हम जैसे-जैसे बड़े बनते हैं, समझदार बनते हैं, वैसे-वैसे हमारे मन पर आवरण आते रहते हैं। आवरण अज्ञान का होता है। आवरण सन्देह का होता है। आवरण माया का होता है। हम दूसरे व्यक्ति को जानने का यत्न नहीं करते, इसलिए हमारा मन उसके प्रति सरल नहीं होता। हम दूसरे व्यक्ति के प्रति विश्वास नहीं करते, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नहीं होता। हम दूसरे व्यक्ति से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं, इसलिए उसके प्रति हमारा मन सरल नहीं होता। यदि इस दुनिया में अज्ञान, सन्देह और कपट नहीं होता तो मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम की धार बहती। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई

दूरी नही होती। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से विभक्त नही होता। एक संस्कृत-कवि ने कहा है—

'सन्धत्ते सरला सूची, वक्रा छेदाय कर्तरी'—सूई सरल होती है, इसलिए जोडती है, दो को एक करती है और कैंची टेढी होती है, इसलिए वह काटती है, एक को दो करती है।'

सरलता मनो को साधती है। माया कैंची का काम करती है, मनो के टुकडे-टुकडे कर डालती है।

हमारे नीति-शास्त्रियो ने कहा है—'मनुष्य को बहुत सरल नही होना चाहिए। देखो, जो वृक्ष बहुत सरल-सीधे होते है, वे काट दिए जाते हैं और जो टेढे होते हैं, वे नही काटे जाते।' इस नीति-वाक्य ने मानवीय हृदय मे प्रचलित सहज दीप को बुझाने का काम किया है। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, क्या आप टेढे शरीर वाले मनुष्य को पसन्द करते हैं? क्या आप टेढी बात कहने वाले का विश्वास करते हैं? क्या अपने साथ कुटिल व्यवहार करने वाले को आप पसन्द करते है? क्या मन मे कुटिलता रखने वाले को आप पसन्द करते हैं? इन सब प्रश्नो का उत्तर नकार की भाषा में होगा अर्थात् आप उन्हे पसन्द नही करते हैं। तब यह कैसे माना जाए कि हमे बहुत सरल नही होना चाहिए? यदि हर आदमी का मन खुली पोथी जैसा होता तो मनुष्य मनुष्य से डरता ही नही। आज एक आदमी दूसरे आदमी से इसीलिए डरता है कि उसके मन मे छिपाव है, घुमाव है, अस्पष्टता है और अन्धकार है।

हम भोले न हो—सामने की स्थिति का प्रतिबिम्ब लेने की स्वच्छता से वचित न हो। हम मायावी भी न हो—अपने मन की कलुषता से सामने वाले के मन को कलुषित करने की दक्षता से सम्पन्न न हो। हम सरल हो—वातावरण के प्रति सजग हो, किन्तु दूसरो के प्रति मन मे मलिन भाव न हो। जिसका मन सरल होता है, वह दूसरो से ठगा नहीं जाता। ठगा वही जाता है जिसके अपने मन मे मैल होता है।

एक बुढिया जा रही थी। सिर पर एक गठरी थी। उसी रास्ते से एक

युवक जा रहा था। उसके मन मे करुणा का भाव आया। उसने बुढिया से कहा—'दादी! कुछ देर के लिए गठरी मुझे दे दो। तुम्हे थोडा-सा विश्राम मिल जाएगा। बुढिया ने उसका भाव देखा और गठरी उसे दे दी। थोडी देर बाद बुढिया ने गठरी फिर ले ली। युवक का मन बदल गया। उसने सोचा—गठरी मेरे पास थी। उसे लेकर मैं भाग जाता तो बुढिया मेरा क्या करती? युवक ने फिर गठरी मागी। बुढिया ने वह नही दी। उसने फिर आग्रह किया तो बुढिया ने कहा—'अब नही दूगी।' उसने पूछा, 'दादी! अब क्या नही दोगी?' बुढिया बोली—'बेटा! अब नही दूगी। जो तुझे कह गया वह मुझे भी कह गया।

सरलता मन का वह प्रकाश है जिसमे कोई भी वस्तु अस्पष्ट नही रहती। माया मन का वह अन्धकार है जिसमे आदमी भटकता है, भटकता है और भटकता ही रहता है।

१९ मार्दव

गुलाब के फूल मे जो सौन्दर्य और सुगन्ध है, वह हर फूल मे नही है। यह उत्कर्ष और अपकर्ष प्रकृति का नियम है। जहा पहाड है, वहा चोटी भी है और तलहटी भी है। पहाड मे विचार-शक्ति नही है, इसलिए उसकी चोटी और तलहटी मे कोई सघर्ष नही है। मनुष्य विचारशील प्राणी है। जो तलहटी पर खडा है, वह चोटीवाले को देख हीन-भावना से भर जाता है और जो चोटी पर खडा है वह तलहटीवाले को देख अहभाव से भर जाता है। मनुष्य मे लम्बे समय से हीनता और उच्चता का सघर्ष चल रहा है। अमेरिका जैसे सुसस्कृत देश मे जातीय दगे होते है। गोरे आदमी काले आदमियो को हीन मानते है। उनकी प्रतिक्रिया जातीय द्वेष का रूप ले चुकी है।

हिन्दुस्तान जैसे धार्मिक देश मे स्पृश्य और अस्पृश्य—ये दो श्रेणिया

आज भी चल रही है। न जाने कितन लोगो ने अस्पृश्यता के अभिशाप से अभिशप्त होकर धम-परिवतन किया और कर रहे हैं। जिस वग न उत्कष प्राप्त किया, उसने दूसरे वग का अपने मे निम्न ठहराकर ही सतोष की सास ली। यह मनुष्य का मद है। मद अधम का द्वार है। इसम प्रवेश पाकर मनुष्य ने सदा दूसरे मनुष्यो के प्रति क्रूर व्यवहार किया है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भन्ते! धम के द्वार कितने है?'

भगवान् ने कहा—'धम के चार द्वार हैं।'

'कौन-कौन-से, भन्ते?'

तो भगवान् ने कहा—'शान्ति, मुक्ति, ऋजुता और मृदुता।'

मृदुता धम के प्रासाद म प्रवेश पाने का एक द्वार है। पहले द्वार और फिर प्रासाद। द्वार मे प्रवेश पाए विना कोई प्रासाद तक पहुच नही सकता। क्या मृदु वने विना कोई धार्मिक हो सकता है? कोई आदमी धार्मिक तो है किन्तु मृदु नही है। इसका अथ यह हुआ कि दिन तो है पर प्रकाश नही है। प्रकाश के विना दिन का अस्तित्व आपको मान्य नही है। फिर मृदुता के विना धम का अस्तित्व आपको कैसे मान्य होगा? धार्मिक जगत् ने मृदुता को मान्यता दी है पर उसका अथ-बोध बहुत सकुचित है। मृदुता का अथ समझा जा रहा है विनम्रता। यह समझ त्रुटिपूण नही है, किन्तु अपूण है। मृदुता का पूण अथ है, कठोरता का विसजन क्रूरता का विसजन। जिसका हृदय मृदु नही है, उसका सिर झुक जाता है, फिर भी क्या वह मृदु है? मृदु वह हो सकता है जिसके हृदय म करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित है। जिसके हृदय मे करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है, वह शोपण नही कर सकता, अपनी सुख-सुविधा म दूसरो की सुख-सुविधा को विलीन नही कर सकता, दूसरो को हानि पहुचे वैसा काय नही कर सकता।

सिंह चलता है, तब मुडकर पीछे देखता है। क्या धार्मिक के लिए पीछे देखना आवश्यक नही है? सिंहावलोकन किए विना अतीत और वतमान मे सामजस्य स्थापित नही किया जा सकता। आत्मालोचन किए विना धम पर आने वाले आवरण को तोडा नही जा सकता। अहभाव व्यक्ति को क्रूर

बनाना है। क्रूरता प्रतिहिंसा को जन्म देती है। वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा फलित हो रहा है। इस रोग की चिकित्सा है मृदुता, मृदुता और एकमात्र मृदुता।

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—'भन्ते! मृदुता से क्या प्राप्त होता है?'

भगवान् ने कहा—'गौतम! मृदुता से अपने आपको दूसरों से अतिरिक्त मानने की भावना मर जाती है।'

इस दुनिया में कोई भी आदमी भगवान् के घर से नहीं आया है। हम सब मनुष्य हैं। इसलिए हर मनुष्य दूसरे मनुष्य से मानवीय व्यवहार की अपेक्षा रखता है।

२० लाघव

एक आदमी तालाब में स्नान कर रहा था। उसने गहरी डुबकियां ली। घंटाभर तक वह जल में तैरता-डूबता रहा। आखिर बाहर आया। घर जाते समय जल का घड़ा भर लिया। घड़ा कंधे पर रख वह चलने लगा। घर कुछ दूर था। मार्ग में वह थक गया। उसने मन ही मन सोचा—तालाब में डुबकी ली तब सैकड़ों टन पानी मेरे सिर पर था। पर मुझे कोई भार का अनुभव नहीं हुआ। घड़े में दस-बारह किलो पानी होगा, फिर भी मुझे भार का अनुभव हो रहा है। यह क्यों? ऐसा प्रश्न उन सबके मन में पैदा होता है, जो व्यापक और सीमित—दोनों क्षेत्रों का अवगाहन करते हैं।

तालाब में जल मुक्त होता है, उसका अवगाह-क्षेत्र व्यापक होता है, इसलिए भार का दबाव विकेन्द्रित हो जाता है। घड़े में जल बंधा होता है, उसका अवगाह-क्षेत्र सीमित होता है, इसलिए भार का दबाव केन्द्रित हो जाता है। जब धन का संग्रह सीमित क्षेत्र में होता है, तब वातावरण में

दबाव, तनाव और भार की अनुभूति होती है। जब धन का अवगाह-क्षेत्र व्यापक हो जाता है, तब वातावरण दबाव, तनाव और भार की अनुभूति से शून्य हो जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था, 'ऋद्धि-गौरव—धन को अपना मानने से आदमी बोझिल बनता है और ऋद्धि-लाघव से वह हल्का बनता है।'

जब खाद्य-सामग्री केन्द्रित हो जाती है, कुछेक लोगों के हाथों में जमा हो जाती है तब वातावरण में दबाव, तनाव और भार की अनुभूति होती है। जब खाद्य-सामग्री विकेन्द्रित हो जाती है, सबके हाथों में पहुंच जाती है तब वातावरण दबाव, तनाव और भार की अनुभूति से शून्य हो जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था, 'रस-गौरव—खाद्य को अपना मानने से आदमी बोझिल बनता है और रस-लाघव से वह हल्का बनता है।'

जब सुख की अनुभूति केन्द्रित हो जाती है, अपनी सुख-साधना में दूसरों की कठिनाइयों की अनुभूति मिट जाती है, तब वातावरण में दबाव, तनाव और भार की अनुभूति होती है। जब सुख की अनुभूति व्यापक हो जाती है, तब वातावरण दबाव, तनाव और भार की अनुभूति से शून्य हो जाता है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा था, 'सुख-गौरव—सुख को अपना मानने से आदमी बोझिल बनता है और सुख-लाघव से आदमी हल्का बनता है।'

एक पद-यात्री से पूछिए, वह हल्का होकर चलना चाहता है या बोझ से लदकर? उत्तर मिलेगा, 'हल्का होकर चलना चाहता हूं।' हम अपने मस्तिष्क पर कितना भार लादते हैं। एक गधा जितना भार नहीं ढोता, उतना भार हम कल्पनाओं का ढोते हैं। जितना भार एक ऊंट नहीं ढोता, उतना भार हम योजनाओं का ढोते हैं। जितना भार एक हाथी नहीं ढोता, उतना भार हम मान्यताओं का ढोते हैं। बहुत लोग कहते हैं, मन में शान्ति नहीं है, प्रसन्नता नहीं है। वे शान्ति चाहते हैं पर दिमाग का बोझ हल्का करना नहीं चाहते। वे प्रसन्नता चाहते हैं, पर दिमाग का बोझ हल्का करना नहीं चाहते। शरीर का भारी होना ज्वर का लक्षण है। शरीर का हल्का

होना स्वास्थ्य का लक्षण है। दिमाग का भारी होना अशान्ति का लक्षण है। दिमाग का हल्का होना शान्ति का लक्षण है।

आज के औद्योगिक युग मे चारो ओर तनाव बढ रहा है—स्नायविक तनाव, मानसिक तनाव, व्यावहारिक तनाव और व्यावसायिक तनाव। तनाव और तनाव से उत्पन्न होने वाला पागलपन। क्या लाघव के सिवा इसकी कोई चिकित्सा हो सकेगी ?

घडा अपने लिए भरने और उतना भार ढोने की बात समझ मे आ सकती है, पर तालाब को अपने ही लिए बनाने की बात समझ मे नही आ सकती। जो लोग ऐसा कर रहे है, वे केवल अपनी शान्ति और प्रसन्नता को ही दियासलाई नही दिखा रहे हैं किन्तु समूचे समाज की शान्ति और प्रसन्नता की होली जला रहे हैं।

२१ सत्य

सत्य बहुत विराट् है। विराट् को शब्दो मे बाधना एक साहसिक प्रयत्न है। आदमी अनन्त आकाश को बाध अपना घर बना लेता है। अनन्त मे फैली हुई सूरज की रश्मियो को ग्रहण कर उसे आलोकित कर लेता है। तब सत्य के अचल का स्पर्श कर हम क्यो नही विराट विभूति की अनुभूति कर सकते ?

आग्रह के लौहावरण को तोडे बिना क्या कोई सत्य तक पहुचा है ? जिसने अपनी धारणा की खिडकी से सत्य को देखा, वह सत्य से दूर भागा है। जिसने तथ्यो की खिडकी से सत्य को देखने का प्रयत्न किया, वह सत्य के निकट पहुचा है।

एक कुलवधू रस्सी से पीपल को बाधकर खीच रही थी। उसके हाथ रक्त-रजित हो रहे थे। शरीर काप रहा था। आखो से अविरल आसू टपक रहे थे। फिर भी हठी पीपल एक पग भी नही सरक रहा था। एक पथिक

उधर से आया। उसने सारा दृश्य देखा। वह शान्त स्वर में बोला—'बहन ? क्या कर रही हो ?' 'भैया ! सास ने पीपल मगाया है, इसलिए इसे घर ले जाने का प्रयत्न कर रही हू। पर यह बहुत हठी है। मेरी एक भी बात नही मानता।' कुलवधू ने फिर एकबार रस्सी को दृढता से खीचा, किन्तु पीपल नही चला।

पथिक ने कहा—'बहन ! पीपल ऐसे नही जाएगा।' वह पीपल पर चढा, एक टहनी तोडी। उसकी ओर बढाते हुए बोला—'लो ! यह पीपल अपनी सास को दे देना।'

आचार्य भिक्षु ने इस कथा द्वारा अज्ञानलब्ध आग्रह का चित्रण किया है। किन्तु आग्रह का यह एक रूप ही नही होता। अपनेपन का भी आग्रह होता है।

एक आदमी तलैया मे बैठा जल पी रहा था। जेठ की गर्मी मे उसका जल सूख गया था। थोडा-बहुत बचा, वह मिट्टी से मिला हुआ था। एक पथिक उस मार्ग से आया। उसने कहा—'थोडी दूर पर बडा तालाब है, स्वच्छ पानी है। वह पीओ। क्यो पीते हो यह मिट्टी मिला पानी ?' 'यह मेरे पिता की तलैया है, मैं इसी का जल पीऊगा'—यह कह वह फिर जल पीने का प्रयत्न करने लगा।

इस प्रकार सोचने और व्यवहार करने वाले लोग इस दुनिया मे कम नही हैं। यदि अपनेपन का आग्रह नही होता तो सत्य का मुह आवरणो से ढका नही होता।

मोह-जनित आग्रह इससे भी भयकर होता है। धोबी के घर एक कुत्ता रहता था। उसका नाम था सतावा। धोबी के दो पत्निया थी। वे परस्पर बहुत लडतीं। लडते समय एक-दूसरे को गाली देती—'आयी है सतावा की बैर (पत्नी)।' कुत्ता इस नाम के मोह मे फस गया। उन्होने कुत्ते को रोटी डालना बन्द कर दिया। वह भूख से सूख गया। पडोस के कुत्ते ने कहा—'चलो, घूमे और रोटी खाए।' उसने कहा—'मैं अपनी दो पत्नियो को छोडकर बाहर कैसे जा सकता हू ?'

सस्कार का आग्रह भी किसी मे कम नही होता। एक चीटी कही जा रही थी। बीच मे दूसरी चीटी मिल गई। दोनो ने बातचीत की। अतिथि-चीटी ने सुखसवाद पूछा तो वहा खडी चीटी ने कहा—'बहन! और तो सब ठीक है पर मुह खारा बना रहता है।' अतिथि-चीटी ने कहा—'तुम नमक के पर्वत पर रहती हो, फिर मुह खारा क्यो नही होगा? चलो मेरे पास। मैं मिसरी के पहाड पर रहती हू। वहा तुम्हारा मुह मीठा हो जाएगा।' वह अतिथि-चीटी के साथ चल पडी। वहा पहुचने पर भी उसका मुह मीठा नही हुआ। उसने कहा—'मेरा मुह तो अभी खारा ही है!' वहा रहने वाली चीटी ने कहा—'मुह म नमक की डली तो नही लायी हो?' 'वह तो है', नमक के पहाड पर रहने वाली चीटी ने कहा। 'बहन, नमक को छोडे बिना मुह मीठा कैसे होगा?

पूर्वाग्रहो से मुक्ति पाए बिना कोई भी आदमी सत्य को नही पा सकता।

२२ सयम

यदि सयम नही होता तो दुनिया मे भय और आतक का एकछत्र साम्राज्य होता। यदि नदी तटो के बीच प्रवाहित नही होती तो उससे जनता का उपकार कम, अपकार अधिक होता। हमारे जीवन की धारा सयम के तटो के बीच बहती है, इसीलिए हम हैं और समाज के बीच मे जीवित हैं। नीचे साबरमती बह रही है, ऊपर रेलवे पुल है। एक ओर बडी लाइन है, दूसरी ओर छोटी लाइन है। पास मे ही साइकिलो और पद-गामियो का मार्ग है। सब अपने-अपने मार्ग से गुजर रहे हैं। कोई किसी के मार्ग मे बाधक नही बन रहा है। यदि व्यवस्था मे सयम नही होता तो नदी के प्रवाह मे रेले रुक जाती, मनुष्यो का आवागमन रुक जाता। मनुष्य सयम को जानता है, इसलिए न प्रवाह रुकता है न रेलें रुकती हैं और न

आवागमन रुकता है।

गीता कछुए के संयम का बखान करती है। कछुआ संयम करना जानता है। अपने अवयवों को अपनी सुरक्षा-ढाल में संगोपित करना जानता है। इसीलिए वह सियारों के प्रहार से बच जाता है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने एक ही भाषा में कहा—'हाथों का संयम करो, पैरों का संयम करो, वाणी का संयम करो, इन्द्रियों का संयम करो और मन का संयम करो।

हर आदमी अपनी सुरक्षा चाहता है। संयम सबसे बड़ी सुरक्षा है। असंयम से जितने आदमी बीमार होते हैं, उतने कीटाणुओं से नहीं होते। असंयम से जितने आदमी घायल बनते हैं, उतने शस्त्रों से नहीं होते। असंयम से जितने आदमी बन्दी बनते हैं, उतने पुलिस से नहीं बनते। असंयम से जितने आदमी मरते हैं, उतने मौत से नहीं मरते।

शरीर-शास्त्री कहते हैं—हम लोग पचास प्रतिशत अपने लिए खाते हैं और पचास प्रतिशत डॉक्टरों के लिए खाते हैं। आंतों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए नहीं खाया जाता, खाया जाता है जीभ की तुष्टि के लिए। भोजन की भूमिका से जीभ की तुष्टि को निकाल दिया जाए तो अन्न का उतना अभाव नहीं रहेगा, जितना आज है। खाने-पीने की आवश्यक वस्तुओं में ध्यान उलझ जाता है, तब मौलिक आवश्यकता पर ध्यान पूर्णतः केन्द्रित नहीं हो पाता। आज ऐसा हो रहा है। विलास या लोलुपता की समस्या ने खाद्य की समस्या को गौण कर दिया है। और खाद्य की समस्या ने अनेक गौण समस्याओं को मुख्य बना दिया है। हिन्दुस्तान अभी अल्प-साधन वाला देश है। उसमें एक वर्ग विलास और अनावश्यक वस्तुओं का भोग करे और दूसरा वर्ग भूख से संत्रस्त रहे, यह करुण कहानी है। इसमें असंयम का बहुत बड़ा हाथ है। आचार्यश्री तुलसी राजस्थान में थे। उनके कुछ शिष्य दूसरे प्रान्त में विहार कर रहे थे। आचार्यश्री ने सुना कि उन्हें भोजन कम मिल रहा है, सुविधा से नहीं मिल रहा है। आचार्यश्री ने अपने भोजन में कमी कर दी। सहानुभूति का स्रोत वहां तक पहुंच गया।

उन्हे कठिनाई की अनुभूति कम होने लगी। सहानुभूति के अभाव मे कठिनाई की अनुभूति प्रखर हो जाती है और सहानुभूति मिलने पर कठिनाई कम न भी हो पर उसकी सहानुभूति अवश्य ही कम हो जाती है। यदि सम्पन्न लोग सयम करे तो अभावग्रस्त लोगो की कठिनाई सहज ही कम हो जाती है और यदि वह एक साथ कम न भी हो किन्तु उसकी अनुभूति निश्चित रूप से कम हो सकती है। मनुष्य की सारी समस्याए वस्तुओ की प्रचुरता से ही नही सुलझती हैं। बहुत सारी समस्याए सयम से सुलझती है। हमारे अर्थशास्त्री केवल वस्तुओ के विस्तार मे समस्या को सुलझाने की बात कर रहे हैं। इस समय हमारे धर्म-शास्त्रियो के लिए क्या यह आवश्यक नही है कि वे वैज्ञानिक पद्धति मे सयम की प्रस्तुति करे और यह प्रतिपादित करें कि सयम से मानसिक समस्याओ के साथ-साथ भौतिक समस्याए भी सुलझती हैं? जब नियम (उपासना पक्ष) प्रधान बनता है और सयम गौण होता है, तब धर्म का क्षेत्र निस्तेज होता है और जब सयम प्रधान और नियम गौण होता है, तब धर्म तेजस्वी बनता है।

२३ तप

एक आदमी चला जा रहा था। जेठ की दुपहरी थी। चिलचिलाती धूप और अगारे बरसाती लू। उसका शरीर तप उठा। उसने सोचा, यह सूर्य नही होता तो दुनिया कितनी सुन्दर होती?

वर्षा ऋतु आयी। आकाश बादलो से घिर गया। भूमि जलजलाकार हो गई। कई दिन बीत गए, बादलो ने आकाश को मुक्ति नही दी। सूर्य का सम्बन्ध भूलोक से विच्छिन्न हो गया। न पूरा प्रकाश, न धूप और लू।

वही आदमी वैद्य के पास पहुचा। वैद्य के पूछने पर बोला—'महाराज! पाचन बिगड गया है, इसलिए दवा लेने आया हू।'

वैद्य ने कहा—'सेठजी! यह बदलाई मौसम है, सूर्य भगवान् की

रश्मिया भूलोक पर नही पहुचती है, इससे अग्नि मद हो जाती है, कृपया कुछ कम खाया करें।' सेठ दवा लिए बिना ही लौट गया। वह मन-ही-मन सोचता जा रहा था कि सूर्य नही होता तो यह दुनिया कितनी भयकर होती।

सूर्य हमारी प्राणशक्ति का स्रोत है। क्या तपस्या हमारी प्राणशक्ति का स्रोत नही है? जो मनुष्य कम खाता है, वह जितना स्वस्थ, सतुलित और प्रसन्न होता है, उतना वह नही होता जो बहुत खाता है। कम खाना तप है। आचाराग मे लिखा है—'भगवान् महावीर रुग्ण नही थे, फिर भी कम खाते थे।' मैं इस तथ्य को इस भाषा मे प्रस्तुत करना चाहता हू कि भगवान् कम खाते थे, इसीलिए स्वस्थ थे। उपवास को चिकित्सा पद्धति का रूप मिल चुका है। किन्तु वह केवल शारीरिक चिकित्सा पद्धति नही है। उससे चिर अर्जित मानसिक मल भी विसर्जित होते हैं। उपवास एक तप है। महात्मा गाधी ने अस्वाद को एक व्रत माना था। जो आदमी अपनी जीभ को जीत लेता है, उसे पराजित करने की क्षमता किसी भी इन्द्रिय मे नही होती। अस्वाद महान् तप है।

हमारा शरीर बहुत चचल है। हमारी इन्द्रिया बहुत चचल हैं। हमारा मन बहुत चचल है। बन्दर बहुत चपल होता है। उसका स्थिर-शान्त बैठ जाना भी एक प्रकार की चपलता है। हमारी चपलता बन्दर की भाति स्वाभाविक नही, किन्तु काय-हेतुक है। हमारे शरीर की स्थिरता सधती है, वह तपस्या है। तपस्या केवल शारीरिक ही नही होती, वाचिक और मानसिक भी होती है। तपस्या का भूख से अनुबन्ध नही है। हमारा मन पवित्र होता है तो हम खाकर भी तपस्या कर सकते हैं। मन की अपवित्रता मे भूखे रहकर भी तपस्या नही कर पाते।

वे प्राणी बहुत भाग्यशाली हैं, जिन्हे पाणि प्राप्त है। वे अधिक भाग्यशाली हैं, जिन्हे वाणी प्राप्त है। वाणी के द्वारा हम बाह्य जगत् से सम्पर्क स्थापित करते हैं। यदि वाणी नही होती तो अभिव्यक्ति का क्षेत्र बहुत सकुचित होता। हम वाणी के द्वारा स्वाध्याय करते हैं। स्वाध्याय का

अर्थ होता है, एक व्यक्ति को प्राप्त सत्य या अनुभूति का हज़ारो-हज़ारो लोगो द्वारा अभिवरण। यह वाचिक तप है। प्रणालिका जल को खेत तक पहुचा देती है। वह मात्र माध्यम है। मूल है जल की सत्ता। कुए मे जल होता है, प्रणालिका उसे खेत तक पहुचाती है। वाणी एक माध्यम है। उसका आकर मन और बुद्धि है। ध्यान मानसिक तप है। अनुप्रेक्षा बौद्धिक तप है। सूत्र से हमारी प्राणशक्ति को पोष मिलता है। तपस्या से हमारी आत्म-शक्ति को पोष मिलता है। गीता मे कहा है—'यह शरीर है। इन्द्रिया शरीर मे अग्रणी हैं, मन इन्द्रियो से अग्रणी है, बुद्धि मन से अग्रणी है और आत्मा बुद्धि मे अग्रणी है।'

कोरा शरीर तपता है तब अह बढता है। शरीर और इन्द्रिया दोनो तपते है, तब सयम बढता है। शरीर, इन्द्रिय और मन तीनो तपते ह, तब आत्मा का द्वार खुलता है। शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि चारो तपते हैं, तब आत्मा का साक्षात् होता है। यह वह भूमिका है, जिसमे तपस्या स्वय कृतकृत्य हो जाती है।

२४ त्याग

मैं एक मन्दिर मे बैठा था। सध्या की वेला थी। पुजारी आया। दीप जला, भगवान् की आरती की। दीप को दीवट पर लाकर रख दिया। मैं दीवट के सामने बैठा था। अब मैं देखता हू पतली-सी दीपशिखा पवन के इशारे पर इधर-उधर घूम रही है। उसमे एक बहुत पतली-सी धूम-शिखा निकल रही है। मैंने मन-ही-मन सोचा, त्याज्य को त्यागना अनिवार्य है। दीप इसीलिए प्रकाश दे रहा है कि वह त्याज्य को त्याग रहा है। हम प्रात काल घूमने जाते ह। चलते-चलते पूरक करते हैं—धीमे-धीमे प्राणवायु को भरते हैं। फिर उसका रेचन करते हैं—बहुत धीमे-धीमे उसे छोडते ह। हम केवल प्राणवायु को ही नही छोडते, उसके साथ दूषित वायु या कार्बन

ने भी छोड़ते हैं। हम इसीलिए स्वस्थ है कि त्याज्य का त्यागना जानते हैं।

जीवन का सूत्र है—लो, काम मे लो और त्याग दो। जो इस सूत्र मे परिचित हैं, उनके जीवन मे प्रकाश है, सुख है और स्वास्थ्य है। जो इस सूत्र से परिचित नही है, केवल लेना जानते है, भोग करना जानते ह, किन्तु त्याग करना नही जानते, उन्हें न प्रकाश प्राप्त है, न सुख और न स्वास्थ्य।

जो धन का सग्रह करते हैं, उसका त्याग नही करते, वे प्रकाश की उपेक्षा कर धुए का अपने भीतर सचित कर रहे हैं।

जो सत्ता का सग्रह करते हैं, उसका त्याग नही करते, वे स्वास्थ्य की उपेक्षा कर दूषित वायु को अपने भीतर सचित कर रहे ह।

त्याग की प्रतिध्वनि केवल अध्यात्म के मन्दिर मे ही नही हो रही है, व्यवहार के कण-कण मे भी त्याग प्रतिबिम्बित हो रहा है।

यदि मनुष्य त्याग की सत्ता से परिचित नही होता तो वह स्वतन्त्र और सम्मानपूर्ण जीवन नही जी सकता। दशार्णभद्र दशार्णपुर का राजा था। वह भगवान् महावीर को वन्दना करने आया। उसे अपने वैभव पर गर्व हो रहा था। इन्द्र भी भगवान् को वन्दना करने आया। उसका वैभव देख दशार्णभद्र लज्जित हो गया। गर्व का पारा नीचे को देख चढता है और ऊपर को देख उतर जाता है। दशार्णभद्र के गर्व का पारा सहसा उतर गया। अब उसके सम्मान की सुरक्षा सभव नही रही। दशार्णभद्र ने उस राज्य-सत्ता को त्याग दिया, जो प्रकाश पर आवरण डाल रही थी। उसके आत्मिक वैभव के सामने इन्द्र का सिर झुक गया।

भोग से शौर्य का दीप बुझता है और त्याग से वह प्रज्वलित होता है। भोग से जीवन का फूल मुरझाता है और त्याग से वह खिलता है।

दशार्णभद्र ने राज्यसत्ता को ही नही त्यागा, उसकी वासना को भी त्याग दिया। विषय दुनिया के अचल मे हैं और वासना हमारे मन के कोने मे है। विषय को त्यागकर हम वासना की जड को उखाड़ने के लिए आगे बढें, वह त्याग है। विषय को त्यागकर यदि हम वासना को उद्दीप्त कर

डाले तो वह त्याग नहीं, त्याग का आभास है।

सच यह है कि हम लोग विषय को त्यागने की बात जितनी जानते हैं, उतनी वासना का त्यागने की बात नहीं जानते। इसीलिए हम बहुत बार त्याग करके भी अत्याग की अनुभूति करते हैं।

त्याग तभी होता है जब अनुराग का स्रोत बाहर से मुड़कर भीतर बहने लग जाता है। एक व्यक्ति ने आवेगों को सुलझाते हुए कहा—'बन्धुवर क्रोध! तुम अपना दूसरा घर ढूंढ लो। भाई मान! तुम भी चले जाओ। देवी माया! तुम यहां नहीं रह सकती। मित्र लोभ! तुम भी चले जाओ। मेरे अनुराग का स्रोत अब भीतर प्रवाहित होने लगा है। इसलिए वह और तुम एक साथ नहीं रह सकते।'

वासना को देखते रहो, उसकी सत्ता हिल उठेगी और विषय की आसक्ति अपने आप विलीन हो जाएगी।

अध्यात्म ही एक ऐसी सत्ता है, जिसकी दृष्टि मे पारसमणि या पत्थर मे अधिक कोई उपयोग नही है। काम-भोग को आप पारसमणि मान ले, मुझे कोई आपत्ति नही होगी, किन्तु वह सबसे बढ़िया नही है, सुखानुभूति का सर्वाधिक साधन नही है। आनन्द के स्रोत का साक्षात् होने पर आदमी उसे वैसे ही ठुकरा देता है, जैसे सन्यासी ने पारसमणि को ठुकराया था।

उपनिषद् के ऋषियो ने गाया—'आनन्द ब्रह्म'—आनन्द ब्रह्म है। यदि आनन्द नही होता तो हमारा जीवन बुझी हुई ज्योति जैसा होता। हमारे शरीर मे से एक रश्मिपुंज प्रसृत हो रहा है। हमारी आखो मे प्रकाश तरंगित हो रहा है। यह सब क्या है? हमारे आनन्द की अभिव्यक्ति है। हमारी चेतना मे आनन्द का सिन्धु लहरा रहा है। हमारा मन आनन्द की खोज मे बाहर दौड रहा है। ठीक कस्तूरी-मृग की दशा हो रही है। कस्तूरी नाभि मे है और वह कस्तूरी की खोज मे मारा-मारा फिर रहा है। विषयो की अनुभूति मे सुख नही है, ऐसा मेरा अभिमत नही है। विषयो से प्राप्त होने वाला सुख असीम नही है, शारीरिक तथा मानसिक अनिष्ट की परिणति से मुक्त नही है। चेतना मे आनन्द सहज स्फूर्त है, असीम है, और उसके परिणाम मे ग्लानि की अनुभूति नही है।

कुछ मानसशास्त्रियो का मत है कि ब्रह्मचर्य इच्छाओ का दमन है और इच्छाओ का दमन करने से आदमी पागल बनता है। उनकी दृष्टि मे ब्रह्मचर्य निषेधात्मक प्रवृत्ति है। इसलिए उसकी उपादेयता मे उन्हें विश्वास नही है।

भारतीय चिन्तन इससे भिन्न रहा है। भारतीय मनीषी ब्रह्मचर्य को सृजनात्मक शक्ति मानते हैं। उसमे निषेध केवल बाह्य उद्दीपनो का है। वह आन्तरिक चेतना के विकास और मुक्ति का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है, इसलिए उसकी सृजनात्मक शक्ति बहुत व्यापक है।

योग के आचार्यों ने हमारे शरीर मे सात चक्र माने हैं। उनमे दूसरे चक्र का नाम स्वाधिष्ठान है। यह काम-चक्र है। यह चक्र विकसित नही होता, तब मनुष्य वासना मे रस लेता है। इस चक्र को हम विशुद्ध-चक्र

(कण्ठ-मणि) मे सपृक्त कर देते है, तब हमारी आनन्दानुभूति का स्रोत बदल जाता है। हम आज्ञा-चक्र या भ्रू-चक्र को विकसित कर लेते है, तब हमारी आनन्दानुभूति का मार्ग बदल जाता है। मानसशास्त्र के अनुसार काम का उदात्तीकरण होता है। योगशास्त्र के अनुसार काम-चक्र का ऊर्ध्वीकरण होता है। इस ऊर्ध्वीकरण से हमारे मन का सहज आनन्द के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। सुखानुभूति के द्वार को बन्द कर कोई आदमी ब्रह्मचारी नही बन सकता। किन्तु आनन्दानुभूति के द्वार को खोलकर ही ब्रह्मचारी बन सकता है।

२६ आकाश इतना ही नही है

आकाश असीम है, इस सत्य से मैं परिचित हू। फिर भी मैं उसे बाधने का प्रयत्न करता रहा हू। मैंने आकाश को बाधा है, वह मेरा घर है। मेरे घर मे आकाश है पर आकाश इतना ही नही है। वह मेरे घर से बाहर भी है। मेरा घर मुझे आश्रय देता है, धूप से बचाता है, सर्दी-गर्मी से सुरक्षा करता है, इसलिए मैं उसे अपना मानता हू, उसकी सुरक्षा करता हू। किन्तु मुझे यह मानने का कोई अधिकार नही कि दूसरे के घर मे आकाश नही है।

धार्मिक वह है जिसमे सत्य की जिज्ञासा है। धार्मिक वह है जो सत्य की खोज करता है। धार्मिक वह है जो सत्य का आचरण करता है। जिसमे सत्य की जिज्ञासा नही है किन्तु वह धार्मिक है, इसका अर्थ हुआ कि लौ नही जलती किन्तु दीप प्रकाश कर रहा है। जिसमे सत्य को खोजने की वृत्ति नही है, किन्तु वह धार्मिक है, इसका अर्थ हुआ कि मार्ग मिला ही नहीं किन्तु नगर मिल गया। जिसमे सत्य का आचरण नही है किन्तु वह धार्मिक है, इसका अर्थ हुआ कि पानी पिया ही नही किन्तु प्यास बुझ गई।

२७ दृष्टि और कृति

आज समूचा विश्व समस्याओ से ग्रस्त है। लगता है एक नाटक खेला जा रहा है। उसमे द्रष्टा नीचे दब गया है और दृश्य ऊपर आ गया है। यह सुषुप्ति की दशा है। मनुष्य जिस दिन जाग उठेगा, समस्या की गाठ खुल जाएगी। दृश्य का अस्तित्व सनातन है। उसका लोप नही होगा। उसके विलोप का प्रयत्न नही करना है। हमे जो करना है वह केवल द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्ध का परिष्कार है। दृश्य की अनुभूति मे द्रष्टा अपने अस्तित्व को विस्मृत कर देता है, यह अस्वाभाविक सम्बन्ध है। यही समस्याओ का मूल है। द्रष्टा की स्वानुभूति से दृश्य की अनुभूति सपृक्त होती है, यह सम्बन्ध की सगति है।

द्रष्टा और दृश्य की विसम्बन्ध दशा मे मनुष्य जो देखता है वह करना नही है और जो करता है वह देखता नहीं है। वह मायावी दशा है। उसमे देखना और करना अलग अलग हो जाते है। द्रष्टा और दृश्य की सुसम्बन्ध दशा मे मनुष्य जो देखता है वही करता है और जो करता है वही देखता है। यह ऋजुदशा है। इसमे देखना और करना अलग-अलग नही होते।

२८ अपूर्णता का आनन्द

यदि व्यक्ति पूर्ण हो जाए तो फिर पुरुषार्थ के लिए अवकाश कहा रहेगा? आग के लिए ईंधन आवश्यक है। यदि मनुष्य को भूख न लगे तो वह निकम्मा होकर पडा रहेगा। उसे भूख लगती है, इसलिए वह जागता है। मजदूर मिल जाने के लिए जल्दी उठता है। अध्यापक पढ़ाने के लिए कॉलेज जाने की जल्दी मे है। किसान खेत मे जाता है। यदि व्यक्ति पूर्ण हो जाए तो सब निठल्ले हो जाएगे। पुरुषार्थ का आधार है अपूर्णता।

आनन्द अपूण रहने मे ही है, पूणता मे नही। पूर्ण भगवान् को रहने दो, व्यक्ति के लिए अपूणता ही अच्छी है। यदि अपूर्णता नही होती तो समुदाय नही बनता। पण्डाल एक खभे मे खडा हो जाता तो इतने खभो की आवश्यकता नही होती। यदि मनुष्य एक पैर से चलता तो दूसरे पैर की आवश्यकता नही होती। दूसरे की आवश्यकता है, यही सापेक्षता है। अपूर्णता के साथ सापेक्षता जुटी हुई है। आश्चय है कि व्यक्ति अपूण होते हुए भी निरपेक्ष-भाव से सोचता है। अपनी कोठी दस लाख की बनाता है। कोठी के बाहर पडोस मे गन्दी नाली बहती है, उसकी उसे चिंता नही है। क्या वह उसकी गन्दी हवा मे बच सकता है?

आजकल कोठी मे रहने वाले बन्द खिडकी मे रहते है, क्योकि प्रकाश बिजली से और हवा पखे से मिल जाती है। वे जनता के साथ सम्पर्क नही रखते। आज व्यक्ति इतना व्यक्तिवादी बन गया है कि वह सम्पक-सूत्र को काट रहा है। किन्तु जो प्रकृति मे अपूर्ण है, वह जगत् से सम्पक विच्छिन्न कर क्या जी सकता है?

२९ सम्पर्क-सूत्र

हमारी चेतना के दो रूप हैं—व्यक्त चेतना और अव्यक्त चेतना। मनो-विज्ञान मन को तीन भागो म विभक्त करता है—अवचेतन मन अर्ध-चेतन मन और चेतन मन। अव्यक्त चेतना जगमगाता सौरपिण्ड है, प्रकाश राशि है।

कल मैंने देखा, नदी का पूर आ रहा था। पास मे नाले थे। नालो म पानी उतना ही था जितना कि अवकाश था। पानी के प्रवाह और बिजली के प्रवाह की समान गति है। हमारे पास चेतना को व्यक्त करने के छह साधन हैं—पाच इन्द्रिया और मन। य छह सम्पक सूत्र ह। ये बाह्य जगत से सम्पर्क कराने मे पटु ह। मैं देखता हू तो सारा जगत मेरे लिए दृश्य बन

जाता है। मैं बोलता हू तो मैं वक्ता और आप श्रोता बन जाते हैं। इनके माध्यम से बाह्य जगत् के साथ मेरे अन्तर् मन का सम्बन्ध जुडता है।

३० विज्ञान और अध्यात्म

मनुष्य का स्वभाव है कि वह अज्ञात को ज्ञात करना चाहता है। इसी-लिए उसमे सत्य-शोध की वृत्ति का विकास हुआ है। अखण्ड सत्य मे अध्यात्म और विज्ञान दोनो समाविष्ट हो जाते हैं।

जब से मनुष्य ने जाना है, तब से उसने प्रयोग भी किए हैं। प्रायोगिक ज्ञान ही विज्ञान है। मान्यता का ज्ञान विज्ञान नही है। तर्कशास्त्र मे उसे विकल्प कहा जाता है। विज्ञान भी तथ्य को पहले पूर्व-मान्यता के रूप मे स्वीकार करता है, फिर प्रयोग के द्वारा उसे सिद्ध करता है। जो प्रयोग द्वारा प्रमाणित नही होता, वह असत्य सिद्ध हो जाता है।

वैज्ञानिक बोध विश्लेष और सश्लेष की प्रक्रिया तथा उसके लब्ध परिणाम से होता है। अध्यात्म का बोध प्रत्यक्षानुभूति से प्राप्त होता है। यही इन दोनो मे अन्तर है।

३१ कला और कलाकार

बहुत अच्छा होता मैं कलाकार होता और कला पर प्रकाश डालता। पर मैं कलाकार नही हू, साधक हू। साधक भी सयम का हू, कला का नही। मैं व्यापक दृष्टि से सोचता हू, तो पाता हू कि जिस व्यक्ति के पास वाणी है, हाथ है, अगुली है, पैर है, शरीर के अवयव हैं, वह कलाकार है। इस परिभाषा मे कौन कलाकार नही है? हर व्यक्ति कलाकार है। मैं भी कलाकार हू।

मनुष्य मे अभिव्यक्ति या आत्मव्यापन की प्रवृत्ति आदिकाल से रही है। वह अव्यक्त से व्यक्त होना चाहता है। यह नही होता तो वाणी का विकास नही होता। यदि यह नही होता तो मनुष्य का चिन्तन वाणी के द्वारा प्रवाहित नहीं होता। अव्यक्त का व्यक्तीकरण और सूक्ष्म का स्थूलीकरण क्या कला नही है?

उपनिषद् के अनुसार सृष्टि का आदि बीज कला है। ब्रह्म के मन मे आया मैं व्यक्त होऊ। वह नाम और रूप के माध्यम से व्यक्त हुआ। सृष्टि और क्या है? नाम और रूप ही तो सृष्टि है। जिसमे अभिव्यक्ति का भाव हो और जो उसे व्यक्त करना जानता हो, वही कलाकार है।

कलाकार पहले रेखाएं खीचता है, फिर परिष्कार करता है। कभी-कभी परिष्कार में मूलरूप ही बदल जाता है। मकान का परिष्कार होता है। हर कृति का परिष्कार होता है। परिष्कार विकास का लक्षण है।

कला मे हाथ, अगुली, पैर, इन्द्रिय और शरीर का प्रयोग होता है। भगवान् ने हमे पाठ दिया कि हाथ का सयम करो। पैर का सयम करो। वाणी का सयम करो। इन्द्रियो का सयम करो।

कला का सूत्र है, आख खोलकर देखो। सयम का मूल सूत्र है, आख मूदकर देखो। कला की पृष्ठभूमि म अभिव्यक्ति है। सयम अभिव्यक्ति की ओर प्रेरित करता है। दोनो म सामजस्य प्रतीत नही होता। हर वस्तु मे विरोधी युगल होते है। एक परमाणु म भी अनन्त विरोधी युगल है। जिसम ये नही होते, उनका अस्तित्व नही होता।

कला और सयम मे भी सामजस्य है। कला का अर्थ है सामजस्यपूर्ण प्रवृत्ति। मुझे स्याद्वाद की दृष्टि प्राप्त हुई है। मैं सापेक्ष-दृष्टि से देखता हू कि कला का विस्तार सामजस्य मे हुआ है। सत्य कला मे विराट् है। सत्य के साथ कला का योग होने से जीवन विकासशील बन जाता है। अगरबत्ती को अग्नि मिलने से सुगन्ध फूट पडती है। सत्य और सौन्दर्य का योग होने से जीवन का विकास हो जाता है। जीवन-विकास और कल्याण मे अन्तर नही है। कल्याण यानी शिव। हमारा शिव सत्य और सौन्दर्य के बीच होता

चाहिए। जीवन की पृष्ठभूमि मे शिव और आखो के सामने सौन्दय हो तभी सत्य, शिव, सुन्दर की समन्विति हो सकती है।

३२ अनशन

अनशन आत्महत्या है—इसे मैंने पकडा है पर यह नही पकड सका आत्म क्या है? मैंने देह को ही आत्म मान रखा है इसलिए मैं देह-पात को ही आत्महत्या मान बैठा हू। क्या चैतन्य का प्रदीप आत्म नही है? क्या दशन का वातायन आत्म नही है? क्या पवित्रता का प्रकोष्ठ आत्म नही है? देह का भारवहन इसीलिए है कि चैतन्य का प्रदीप जलता रहे, दशन का वातायन खुला रहे और पवित्रता का प्रकोष्ठ भरा रहे। यदि ऐसा न हो, प्रदीप के बुझने, वातायन के बन्द होने और प्रकोष्ठ के खाली होने की स्थिति प्राप्त हो तो देह के भारवहन की मर्यादा अपने आप टूट जाती है।

यह आत्महत्या नही है, किन्तु आत्म-सयम है। यही है अनशन अर्थात् जिसके लिए देह है उसी की सुरक्षा के लिए देह का विसजन।

३३ आस्था का एकागी अचल

हमारे कुछ तत्त्ववेत्ता छिलके को समाप्त कर गूदे की निष्पत्ति चाहते हैं। किन्तु प्रश्न होता है, क्या यह सम्भव है? क्या आपने कोई ऐसा फल देखा है कि उसमे गूदा है और उस पर छिलका नही है? मैं जहा तक जान पाया हू, गूदे की निष्पत्ति के लिए छिलके का होना अनिवार्य है। इस अनिवायता का अस्वीकार वस्तुस्थिति का अस्वीकार है।

आप सब्जीमण्डी मे जाते हैं और सतरे खरीदते है। एक किलो सतरे

म लगभग आधा किलो छिलके होते हैं। आप छिलके नही खाते, उन्हे डाल देते ह। छिलके डालने होगे, यह जानते हुए भी आप छिलके-सहित सतरे खरीदते ह और दूकानदार को एक किलो सतरे के दाम चुकाते हैं। सतरों की फाके छिलकों के बिना सुरक्षित नही रहती, इस बुद्धि से आप उनकी उपयोगिता स्वीकार करते ह और उनका मूल्य चुकाते हैं। आप छिलके को फेंक देते हैं पर उसे तभी फेंकते हैं, जब सतरा खाने को प्रस्तुत होते ह।

मैं छिलके की तुलना बाह्य चर्या या क्रिया से कर रहा हू और गूदे की तुलना आत्मानन्द या आत्मानुभूति से कर रहा हू। आत्मानुभूति पहले ही पदन्यास मे परिपक्व नही हो जाती। मैं मानता हू कि बाह्य चर्या आत्मानुभूति नही है। किन्तु बाह्य चर्या आत्मानुभूति की परिपक्वता का निमित्त नही है, यह मानने के लिए मुझे कोई पुष्ट हेतु प्राप्त नही है। मैं मानता हू कि छिलका त्याज्य है। किन्तु क्या आप नही मानेंगे कि फल का परिपाक होने से पूर्व वह त्याज्य नही है? समुद्र के तट पर पहुच जाने वाले हर यात्री के लिए जलपोत त्याज्य है, किन्तु समुद्र के मध्य मे चलने वाले यात्री के लिए वह त्याज्य कैसे हो सकता है? क्या हम इसे स्वीकार करेंगे कि समुद्र का पार पाने के लिए जलपोत का कोई उपयोग नही है? हेय और उपादेय की भूमिका एक और निरपेक्ष नही होती। वे अनेक और सापेक्ष होती हैं।

आत्मानुभूति की भूमिका म आरूढ व्यक्ति के लिए बाह्य चर्या का उपयोग समाप्त हो जाता है। पर आत्मानुभूति की भूमिका मे आरोहण करने वाले व्यक्ति के लिए उसकी उपयोगिता को कैसे नकारा जा सकता है? समय से पूर्व छिलका उतार लेने पर फल का परिपाक रुक जाता है। समय से पूर्व जलपोत छोड देने पर आदमी डूब जाता है।

आचार्य रजनीश तथा कानजी स्वामी जिस तत्त्व का प्रतिपादन कर रहे हैं, उसकी तुलना निम्न निदर्शनो से की जा सकती है कि छिलका अनावश्यक है और तैरने की शक्ति हमारे हाथो मे है, इसलिए जलपोत भी हमारे लिए आवश्यक नही है। क्या मैं कहू कि उनके इस प्रतिपादन म सचाई नही है? क्या किसी स्याद्वादी के लिए ऐसा कोई प्रतिपादन है, जिसम

सचाई का अश न हो। इस प्रतिपादन मे सचाई है पर उसका सम्बन्ध हमारे अस्तित्व की व्याख्या से है, उसकी उपलब्धि से नही है। चैतन्य की सत्ता ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति से पूर्ण है। वह प्रारम्भ मे अव्यक्त होती है। साधना के द्वारा उसकी क्रमिक अभिव्यक्ति होती है। साधना के तीन अग है

१ सम्यक् दर्शन,

२ सम्यक् ज्ञान,

३ सम्यक् चारित्र।

इनमे सम्यक् दर्शन आधारभूत है। उसकी उपलब्धि होने पर सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र उपलब्ध होते है। उसकी अनुपलब्धि मे दोनो (सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) उपलब्ध नही होते। किन्तु इस पौर्वापर्य का यह अर्थ नही कि सम्यक् दर्शन होने पर सम्यक् ज्ञान परिपूर्ण हो जाता है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की परिपूर्णता के बीच हजारो योजनो की दूरी है। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होने पर ज्ञान का मिथ्यात्व मिट जाता है। पर उसका आवरण सर्वथा क्षीण नही होता। ज्ञान की निरावरण दशा सम्यक् चारित्र से निष्पन्न होती है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के पौर्वापर्य का यह अर्थ नही कि सम्यक् दर्शन होने पर अपने आप हो जाता है। सम्यक् चारित्र आत्मा की स्वकेन्द्रित परिणति होने पर प्राप्त होता है। यदि आत्मदर्शन और आत्म-रमण की परिणति एक ही होती तो हर आत्मदर्शी व्यक्ति निरावरण और निष्कषाय हो जाता। किन्तु ऐसा नही होता है। सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाने पर भी कषाय क्षीण नही होता और कषाय की सत्ता मे ज्ञान का आवरण क्षीण नहीं होता। यदि सम्यक् दर्शन उपलब्ध होने पर शेष सब कुछ उपलब्ध हो जाता तो साधना की लम्बाई सिमट जाती है। किन्तु वास्तविक जगत् मे ऐसा नही है। सम्यक् दृष्टि की उपलब्धि हो जाने पर भी साधना की लम्बाई शेष रहती है। सम्यक् दर्शन की पूर्णता होने पर भी सम्यक् ज्ञान की पूर्णता नही होती। सम्यक् ज्ञान की पूर्णता होने पर भी

मवर की पूर्णता नही होती है और मवर की पूणता हुए विना मुक्ति नही होती है। सम्यक् दशन की पूणता होते ही सम्यक् ज्ञान और सवर की पूणता हो जाती है। यह नियम नही है, किन्तु नियम यह है कि सवर की पूर्णता सम्यक् ज्ञान की पूणता और सम्यक् ज्ञान की पूणता सम्यक् दशन की पूणता प्राप्त हुए विना नही होती।

भगवान् महावीर को सम्यक दशन प्राप्त था। सम्यक् चारित्र प्राप्त होने पर भी भगवान् ने साढे बारह वर्षों तक तपश्चर्यापूवक साधना की थी।

'सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर उपवास, सामायिक आदि आवश्यक नही होते। परम्परा, शास्त्र आदि सव व्यथ हैं'—इस प्रकार की निरूपणा के द्वारा व्यक्ति को क्रिया मे विमुख तथा परम्परा और शास्त्रो के प्रति अनास्थावान् किया जा सकता है किन्तु उसकी सृजनात्मक चेतना को स्फूत नही किया जा सकता।

सृजनात्मक चेतना के निर्माण के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की समन्विन स्थिति आवश्यक है। उसके व्याख्यासूत्र का प्रथम अश यह होगा कि मनुष्य छिलके मे ही उलझा न रहे। वह गूदे तक पहुचे और उसकी रसानुभूति प्राप्त करे। उसका द्वितीय अश यह होगा कि मनुष्य छिलके की उपयोगिता को अस्वीकार न करे। आवरण की भूमिका मे निरावरण का समारोप न करे।

एक ओर कुछ लोग केवल व्यवहार की भूमिका पर विहार कर रहे हैं। वे निमित्त के सामने उपादान की तथा पर्यावरण के सामने अन्तरात्मा की सत्ता को दृष्टि से ओझल किए हुए हैं। दूसरी ओर कुछ लोग वे हैं, जो वास्तविकता की भूमि पर पैर टिकाए खडे हैं। उनका मानना है कि उपादान और अन्तरात्मा की सत्ता ही सब कुछ है। निमित्त और पर्यावरण की कोई उपयोगिता नही है। ये दोनो सत्य के अन्तिम छोर हैं। ये परस्पर सपृक्त नही हैं, इसलिए खण्डित सत्य हैं। अखण्ड सत्य यह है कि निमित्त के प्रभाव-क्षेत्र मे रहने वाला हर उपादान निमित्त से प्रभावित होता है और

निमित्त के प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त रहने वाला निमित्त से प्रभावित नहीं होता। पहली सायोगिक अवस्था है और दूसरी स्वाभाविक। जो लोग एकागी प्रतिपादन करते हैं, वे सायोगिक अवस्था मे स्वाभाविक अवस्था का आरोपण करते हैं। स्वाभाविक अवस्था तक पहुचना हमारा साध्य है किन्तु वह वर्तमान मे हमारे लिए सिद्ध नहीं है। अभी हम सायोगिक अवस्था मे है। स्वाभाविक अवस्था की उपलब्धि के बाद हम निमित्त से प्रभावित नहीं होंगे। किन्तु सायोगिक अवस्था मे रहते हुए निमित्त से प्रभावित नहीं होते, इस मान्यता मे समारोपण है, वास्तविकता नहीं है।

मनुष्य मे प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति अधिक होती है। साधारण व्यक्ति के लिए सूक्ष्म तक पहुचना सुलभ नहीं होता, इसलिए वह स्थूल के प्रति अधिक आग्रही होता है। विकासशील व्यक्ति स्थूल मे बहुत सार नहीं देखता, इसलिए वह सूक्ष्म के प्रति आग्रही होता है। जब सूक्ष्म की उपासना अधिक हो जाती है, तब मनुष्य का झुकाव स्थूल की ओर होने लगता है। जब स्थूल की उपासना अधिक होने लगती है तब मनुष्य का झुकाव सूक्ष्म की ओर होने लगता है। ये दोनो एकागी आचरण की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तिया हैं। इनसे बचने का उपाय है, सूक्ष्म और स्थूल का सतुलित उपयोग। साध्य साधनो की उपेक्षा सूक्ष्म, दूरगामी और दुर्लभ होता है। स्थूलतम से स्थूलतर और स्थूल तक पहुचने के बाद हम एक नया मोड ले लेते हैं और सूक्ष्म की भूमिका मे पहुच जाते हैं।

अग्नि की उपासना करने वाला शीतलता की अनुभूति नहीं कर सकता, क्योंकि शीतलता और उष्णता परस्पर-विरोधी धर्म हैं। फिर अन्धकार की उपासना करने वाला प्रकाश कैसे पा सकता है ? हमारी आत्मा का शुद्ध रूप अक्रियात्मक है। वही हमारा साध्य है। क्रिया अक्रिया की विरोधी है। इस स्थिति मे हम क्रियात्मकता के द्वारा अक्रियात्मकता की ओर कैसे बढ सकते हैं ? जो जिसका साधन नहीं उसके द्वारा हम साध्य की सिद्धि कैसे कर सकते हैं ? यदि क्रियात्मकता अक्रियात्मकता की उपलब्धि का साधन हो तो फिर उनमे कोई स्वरूप-भेद ही नहीं रहेगा।

इस प्रश्न-पद्धति पर कटाक्ष करना कठिन है। अन्धकार से प्रकाश मिल सकता है, इसकी पुष्टि के लिए मेरे पास कोई तर्क नहीं है। किन्तु क्रिया और अक्रिया मे आत्यन्तिक विरोध ही है, यह मुझे स्वीकार नहीं है। अक्रिया का अर्थ क्रियान्तर है किन्तु अभावात्मकता नही है। जिसका अस्तित्व है, वह निष्क्रिय नही हो सकता और जो निष्क्रिय है, उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। अस्तित्व और निष्क्रियता मे आत्यन्तिक विरोध है। सत् का लक्षण है सक्रियता। सक्रियता के बिना सत् की व्याख्या ही नही की जा सकती। मुक्त होने पर आत्मा निष्क्रिय नही होती, सक्रिय रहती है। उसे अक्रिय अमुक-अमुक क्रिया से मुक्त होने के कारण कहा जाता है। मुक्त आत्मा खाने की क्रिया से मुक्त हो जाने के कारण अक्रिय हो जाती है, किन्तु ज्ञानात्मक प्रवृत्ति की निरतरता के कारण वह सतत सक्रिय रहती है। प्यास के अभाव मे वह जलपान के सुख से वचित हो जाती है, किन्तु सहज आत्मानन्द से वह कभी वचित नही होती।

हमारा अस्तित्व क्रियाशील है और वह हर स्थिति मे क्रियाशील रहेगा। क्रियाशीलता हमारा सहज स्वभाव है। उसमे कोई परिवर्तन नहीं होगा। परिवर्तन केवल क्रियाओ मे हो सकता है। एक क्रिया से और दूसरी क्रिया प्राप्त होती है, तब पूर्व क्रिया की अपेक्षा हम उत्तरवर्ती परिणति को अक्रिय कह देते हैं। क्रिया की इस व्यापक समझ के बाद हम सत्य के इस द्वार तक पहुच जाते हैं कि क्रिया केवल बन्धन का ही हेतु नही है, वह मुक्ति का भी हेतु है। वह केवल अन्धकार ही नही है, प्रकाश भी है। उक्त चर्चा को हम इस भाषा मे भी समेट सकते हैं कि अमुक प्रकार की सक्रियता (मुक्त अवस्था) को अमुक प्रकार की सक्रियता से साध सकते है। यह सिद्धान्त अक्रिया से अक्रिया की उपलब्धि का नही किन्तु अमुक प्रकार की सक्रियता से अमुक प्रकार की सक्रियता की उपलब्धि का है। इसमे क्रिया का सर्वथा प्रतिषेध नही होता। किन्तु क्रिया की अमुक श्रेणी का प्रतिषेध होता है अर्थात् साध्य सक्रियता की प्रतिपक्षी सक्रियता का प्रतिषेध और साध्यानुकूल सक्रियता का स्वीकरण होता है। पवित्र क्रिया से आत्म-पवित्रता की

प्रतिपक्ष कोटि मे नही रखा जा सकता, इसलिए क्रिया हमारे जगत् मे सर्वथा परिहार्य नही है। सूक्ष्म क्रिया की उपलब्धि होने पर स्थूल क्रिया स्वय निवृत हो जाती है। किन्तु सूक्ष्म क्रिया की उपलब्धि मे पूर्व स्थूल क्रिया को छोडने का प्रयत्न आत्मघाती हो सकता है।

३४. सत्य सम्प्रदाय और परम्परा

उन लोगो मे सत्य की जिज्ञासा का दीप बुझ चुका है, जो मानते हैं कि हम वही कहें जो कहते आए हैं, वही करें जो करते आए हैं। ऐसा मानने वाले सत्य को पा चुके हैं। उनके लिए अब कुछ शेष नही है—सत्य प्राप्य नहीं है। किन्तु प्रश्न होता है क्या हम अशेप सत्य को पा चुके हैं? यदि पा चुके हैं तो हमारे लिए साधना अपेक्षित नही है। साधना की अपेक्षा यही तो है कि हम प्राप्त सत्य को स्वीकार करें और अप्राप्त सत्य के लिए चलें।

धार्मिक जगत् मे एक बहुत बडी आत्म-भ्रान्ति पनपी है। उसका आधार है आग्रह। अपनी मान्यता के प्रति वह आग्रह इस आकार मे हो कि मैं मानता हू वह सत्य है, तो फिर वह निरापद भी हो सकता है किन्तु मैं मानता हू उसके सिवा शेष सब मानते हैं, वह असत्य है—यह आकार निरापद नही है। आज अधिकाशत यही आकार चल रहा है। इसीलिए सम्प्रदाय परस्पर-विरोधी बन रहे हैं।

सम्प्रदाय परम्परा के वाहक होते हैं। प्रभावशाली आचाय की विचार-धारा का आकार सम्प्रदाय और उसका अनुगमन परम्परा हो जाती है। हर सम्प्रदाय और परम्परा का सत्याश से सम्बन्ध होता है। कोई सत्य से अधिक सम्बद्ध होता है और कोई कम। किन्तु पूण सत्य की अभिव्यक्ति तो व्यक्ति के आत्मोदय मे ही होती है। सत्य-जिज्ञासु मुख्य रूप से साध्योन्मुख होता है और गौण-रूप मे साधनोन्मुख। साम्प्रदायिक व्यक्ति मुख्य रूप से साधनोन्मुख होता है और गौण-रूप से साध्योन्मुख।

सम्प्रदाय में रहने वाला कोई सत्य-जिज्ञासु नहीं होता और सम्प्रदाय में न रहने वाला कोई आग्रही या रूढ़ नहीं होता, यह मानना भी भ्रान्ति है। यदि सम्प्रदाय और सत्य-जिज्ञासा में विरोध होता तो आज तक या तो सम्प्रदाय का अस्तित्व मिट जाता या सत्य-जिज्ञासा निश्शेष हो जाती। दोनों का अस्तित्व है, इसका अर्थ है कि सम्प्रदाय और सत्य-जिज्ञासा में विरोध नहीं है।

सम्प्रदायों में इसलिए विरोध नहीं है कि वे भिन्न विचारधारा के पोषक हैं किन्तु विरोध इसलिए है कि उनका अनुगमन करने वालों में सत्य की जिज्ञासा कम है।

यदि हम चाहते हैं कि सम्प्रदायों में समन्वय हो, सामंजस्यपूर्ण स्थिति हो, मैत्री हो तो हम इस चाह में पहले यह चाह करनी चाहिए कि साम्प्रदायिक लोगों में सत्य की जिज्ञासा प्रदीप्त हो। आज सत्य की जिज्ञासा कितनी मंद है, इसे मैं जैन-सम्प्रदायों की वर्तमान मनोदशा में ही व्यक्त करूंगा।

आज जैन साधुओं के आचार-व्यवहार में कोई थोड़ा-सा परिवर्तन होता है तो अनेक लोग सशयालु बन जाते हैं। उनके मुंह पर एक ही प्रश्न होता है—'यह कैसे हुआ? पहले तो ऐसा नहीं किया जाता था, अब कैसे किया जा रहा है?' अब ऐसा करना उचित है या अनुचित—यह प्रश्न कम होता है। उचित-अनुचित की मीमांसा की जा सकती है पर 'पहले नहीं था और अब है' की कोई मीमांसा नहीं हो सकती।

इस मनोदशा के कारण ही बहुत बार अपेक्षित परिवर्तन करने में भी जैन आचार्य सकुचाते हैं। परम्परा में प्राण हो, उसे बदलना बुद्धिमत्ता नहीं है, किन्तु निष्प्राण परम्परा को चलाते रहना भी बुद्धिमत्ता नहीं है।

आज अनेक जैन मनीषी इस सन्देह-दशा को पाल-पोष रहे हैं कि प्रस्तुत अर्थ-परम्परा सगत नहीं है, फिर भी वे उसे बदलने में इसलिए सकुचाते हैं कि वह बहुत लम्बे समय से चलती आ रही है। जो परम्परा काल की लम्बी अवधि में पल-पुस जाती है, संस्कार की आंच में पक जाती है वह शाश्वत

सत्य जैसी अपरिवर्तनीय हो जाती है। किन्तु मत्य की माग भिन्न है। कोई भी कृत नियम अनन्त या निरवधिक नही है। जो कृत है वह सावधिक है। निरवधिक वही है जो अकृत है—स्वाभाविक है। देश, काल और परिस्थिति के सन्दभ से मुक्त कोई परम्परा नही है। हम पर्युषण (सम्वत्सरी) पर विचार करें। पर्युषण ढाई हजार वष पुरानी वर्षाकालीन स्थिति का सूचक है। आज उसके साथ अनेक कल्पनाए जुड गई है। उन कल्पनाओं का परिणाम यह है कि आज वह विवादास्पद है। किसी परम्परा मे उसके लिए चतुर्थी का दिन मान्य है तो किसी मे पचमी का और किसी मे चतुर्दशी का। पचमी को मान्य करने वाली परम्पराओ म भी कोई परम्परा उदित तिथि के अनुसार पचमी को पर्युषण करता है तो कोई घडियो मे आयी तिथि के अनुसार चतुर्थी को ही पर्युषण कर लेता है। पर्युषण का मूल तत्त्व कही रह गया है और वह कब होना चाहिए—यह प्रश्न मुख्य बन गया है। इस प्रकार न जाने और भी कितने प्रश्न, जो गौण थे वे मुख्य और जो मुख्य थे वे गौण बने हुए है। इन प्रश्नो का समाधान परम्परा को सत्य से सम्बद्ध करने पर ही प्राप्त हो सकता है। जो सत्य हमे कल तक नही मिला, वह आज मिल सकता है और जो आज नही मिला, वह कल तक मिल सकता है। सत्य की शोध और उपलब्धि तब तक होती रहेगी जब तक मनुष्य का अस्तित्व रहेगा।

उपलब्ध सत्य के प्रति हम जितने आस्थावान् हैं, उतने ही आस्थावान् अनुपलब्ध सत्य के प्रति रहे तो हमारी अनेक समस्याए सुलझ जाए। सत्य की उपलब्धि का राजपथ आध्यात्मिक चेतना का जागरण है। हमारी आध्यात्मिक अनुभूति जितनी तीव्र होगी, उतनी ही हमारी बुद्धि आग्रहहीन होगी। आग्रह से बढकर सत्य का कोई सघन आवरण नही है। वह आध्यात्मिक भावना से अपरिष्कृत बुद्धि मे पलता है। यदि हम चाहते हैं कि धम-सम्प्रदायो मे एकता हो वैमनस्य का विसर्जन हो, तो आध्यात्मिक विकास की प्रक्रियाओ को प्राथमिकता दें। उनका विकास चाहे-अनचाहे

एकता या समन्वय का विकास है और उनका ह्रास चाहे-अनचाहे एकता या समन्वय का ह्रास है।

३५ शाश्वत सत्य और युगीन सत्य

जब से मनुष्य का बौद्धिक विकास हुआ है तब से सत्य की चर्चा चलती रही है। दर्शन की भूमिका पर सत्य की तीन धाराएं हैं—शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद और शाश्वत-अशाश्वतवाद।

पहली धारा के प्रतिपादक कूटस्थ नित्यवादी हैं। वे मानते हैं—मूल तत्त्व नितान्त शाश्वत है, उसमें कहीं परिवर्तन का अवकाश नहीं है।

दूसरी धारा के प्रतिपादक क्षणिकवादी हैं। उनके मतानुसार जो है वह सब प्रतिक्षण परिवर्तित होता है।

तीसरी धारा के प्रतिपादक अनेकान्तवादी हैं। वे प्रत्येक तत्त्व को शाश्वत और अशाश्वत इन दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं।

भाषा के प्रयोग में स्पष्टता देश, काल और व्यक्ति के सन्दर्भ में ही आती है। उनके बिना पूर्ण अर्थ नहीं मिलता। 'मैं जाऊंगा'—इसमें अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है जब तक यह न कहूं कि अमुक गांव जाऊंगा, अमुक समय में जाऊंगा।

शाश्वत-अशाश्वत

'अमुक व्यक्ति नहीं है'—इस वाक्य में उसका अस्तित्व तो है पर जिस क्षेत्र में हम उसे देखना चाहते हैं उस क्षेत्र में वह नहीं है, यह देशकृत अनित्यता है। 'अभी नहीं है' यह कालकृत अनित्यता है। जो वस्तु देश और काल से अबाधित होती है वह शाश्वत है। शाश्वत हर देश और हर काल में उपलब्ध होता है। जितने तत्त्व हैं वे सब शाश्वत हैं। दुनिया में जितना था उतना ही है और उतना ही रहेगा। न एक परमाणु घटता है और न

एक परमाणु बढता है। मूल तत्त्व शाश्वत है और विस्तार युगीन है।

अधिकाश धार्मिक अपने नियमो को शाश्वत मानते हैं। चितन किए बिना हर वस्तु को शाश्वत कहा जा सकता है पर वस्तुवृत्या क्या कोई विस्तार शाश्वत होता है ? हम कहते है—धम शाश्वत है। आखिर धम स्वय मे क्या है ? मनुप्य हर तथ्य को भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करता है। भाषा के आधार पर वने नियम और परिभाषा शाश्वन कैसे होगी, जबकि भाषा स्वय अशाश्वत है ? शाश्वत वह है जो स्वाभाविक है। धर्म—जो आत्मा की सहज पवित्रता है वह शाश्वत है। धर्म का प्रतिपादन करने के लिए जितनी परिभाषाए और नियम बने हैं, वे शाश्वत कैसे हो सकते हैं ? आज तक धम की जो परिभाषाए बनी हैं, उनमे क्या कोई शाश्वत रही है ? जो कृत होता है, वह शाश्वत नही होता। परिभाषाए मनुष्य-कृत हैं, इसलिए वे शाश्वत नही हो सकती। कहा जाता है—अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत हैं। प्रश्न है अहिसा है क्या ? जहा आकार होता है, वहा शाश्वतता समाप्त हो जाती है। अहिसा आत्मा की सहजता है, वह शाश्वत हो सकती है।

सस्कार सदा अतीत की ओर ले जाता है। साम्यवादी, जो शास्त्र को नही मानते, वे भी शास्त्र की दुहाई देते हैं। महान् विचारक माओ कहते हैं—रूस सशोधनवादी हो गया है, क्योकि वह लेनिन की विचारधारा से हट गया है। एक ओर वे शास्त्र को अस्वीकार करते हैं और दूसरी ओर उससे चिपके हुए हैं। चीन ने सामन्तशाही परम्परा को बदला, किन्तु उस परिवर्तन मे जो सिद्धान्त काम मे लिए गए उन्हें शाश्वत मान लिया।

शकराचाय ने शास्त्र-वासना को काम-वासना की कोटि मे रखा है। मनुष्य में शब्दों की पकड अधिक होती है। अतीत, अभ्यस्त और प्राचीन के प्रति मोह होता है। सद्यस्क के प्रति उतना लगाव नही होता, जितना चिर-पुराण के प्रति होता है। वह वतमान मे जीता है पर वर्तमान की अपेक्षा अतीत को अधिक देखता है। इसलिए जो युग-सत्य आता है उसे समझने मे कठिनता होती है। जो वस्तु अपना कार्य कर चुकी, उसके प्रति हमारा

सम्मान हो सकता है, पर उसकी नियामकता कैसे हो सकती है ?

जिसकी उपयोगिता समाप्त हो गई, उससे चिपके रहना बुद्धिमानी नहीं है। विकास उनमे होता है, जो परिवर्तन की बात सोचते हैं। अशाश्वत को शाश्वत मान उसमे परिवर्तन नही करते, वे रूढ बनकर कुछ खोते ही हैं।

३६ आग्रह और अनाग्रह

विकास पहला सूत्र है आग्रह का और विकास का पहला सूत्र है अनाग्रह। अनाग्रह और आग्रह दोनो अत्यन्त उपादेय हैं। अपनी-अपनी भूमिका म आग्रह के स्थान मे अनाग्रह और अनाग्रह के स्थान मे आग्रह होने पर विकास का क्रम रुक जाता है।

आग्रह के समथन का स्वर कण-कण मे मुखरित है। एक आदमी हिन्दुस्तान का नागरिक है। यदि उसके मन मे हिन्दुस्तान की सुरक्षा के प्रति आग्रह नही होगा तो क्या हि दुस्तान की प्रभुसत्ता सुरक्षित रह जाएगी ?

एक आदमी की मातृभापा बगाली है। यदि उसके मन मे बगाली भाषा के प्रति आग्रह नही होगा तो क्या उसका विकास सम्भव होगा ?

एक आदमी जाति से क्षत्रिय है। यदि उसके मन मे क्षत्रिय जाति के प्रति आग्रह नही होगा तो क्या उस जाति का भविष्य बहुत उज्ज्वल रहेगा ?

एक आदमी जैन-धर्म का अनुयायी है। यदि उसके मन मे जैन-धम के प्रति आग्रह नही होगा तो क्या उस धम का अस्तित्व प्रभावशाली बना रहेगा ?

कोई भी मनुष्य किसी एक के प्रति आग्रही नही होगा तो वह किसी का नही होगा। उसका कोई देश, भापा, जाति और धम नही होगा। वह किसी देश, भापा, जाति और धर्म का होकर उसका भला नही कर सकेगा। इस सचाई के सन्दर्भ मे आग्रह का होना अत्यन्त अनिवाय है।

पाकिस्तान के कर्णधार श्री जिन्ना के मन मे पाकिस्तान के निर्माण का आग्रह नही होता तो विश्व के मानचित्र पर पाकिस्तान नामक राष्ट्र का अस्तित्व नही होता।

दक्षिण वियतनाम और उत्तर वियतनाम की लड़ाई केवल वैचारिक आग्रह के आधार पर चल रही है।

साम्यवादी दल के दो गुट—दक्षिणपथी और वामपथी, केवल वैचारिक आग्रह के आधार पर हुए हैं।

सारा विश्व लोकतत्री और साम्यवादी—इन दो खेमो मे विभक्त हुआ है, उसका हेतु भी वैचारिक आग्रह है।

आग्रह के इन विभिन्न स्वरो मे सामजस्य स्थापित करना और उनके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय देना मतभेद से मुक्त नही है। प्रस्तुत प्रकरण मे व्यावहारिक घटनाओ को एक ही कसौटी से कसने की मनोवृत्ति सर्वाधिक नही है। आग्रह और अनाग्रह की सैद्धान्तिक स्थापना विवाद-बन्ध से उन्मुक्त हो सकती है।

सत्य की खोज के लिए हमारी बुद्धि मे अनाग्रह होना चाहिए किन्तु उपलब्ध सत्य के आचरण का आग्रह अवश्य होना चाहिए। ऐसा हुए बिना हम सत्य को जान सकते हैं, पा नही सकते।

यदि सत्य के प्रति हमारा आग्रह हो तो हम समस्याओ का पार पा सकते हैं।

मानसिक शान्ति के सोलह सूत्र

१९६६ मे दिल्ली मे २१ दिवसीय अणुव्रत शिविर की समायोजना हुई। आचार्यश्री गगानगर क्षेत्र मे विहार कर रहे थे। इसलिए मुझे वहा भेजा। उस शिविर मे अनेक भाई-बहन सम्मिलित थे। नगर के भी अनेक व्यक्ति आते-जाते रहते थे। श्री जैनेन्द्रकुमार उसमे सहभुक्त थे। दादा धर्माधिकारी एक सप्ताह तक वहा रहे थे। प्रात कालीन दो घटे का समय चर्चा-गोष्ठी के लिए सुनिश्चित था। उसमे अनेक साधना-बुद्धि-चैतसिक व्यक्ति भाग लेते थे।

उस चर्चा-गोष्ठी मे मैंने जो विचार प्रस्तुत किए वे इन अग्रिम पृष्ठों मे प्रकृत हैं।

व्यक्तिगत साधना के आठ सूत्र

१ उदर-शुद्धि

सुखी और स्वस्थ जीवन का माध्यम उदर है। जितने रोग होते हैं, वे प्राय उदर-विकृति के कारण ही होते ह। आरोग्य की जड उदर है। उदर की शुद्धि का सम्बन्ध तीन मे है। वे है—आहार, निहार और विहार।

आहार

अधिकाश लोग अनियमित आहार करते है, कभी कम करते है तो कभी अधिक। कभी विरुद्ध भोजन करते है तो कभी असतुलित। शरीर-शास्त्रियो की दृष्टि से भोजन न अति-मात्रा मे होना चाहिए और न हीन-मात्रा मे। कम खाना भी मलोत्सग मे रुकावट पैदा करता है। अतिमात्र आहार करना तो हर दृष्टि से दोषपूर्ण है। भोजन आमाशय मे जाता है। आमाशय अपनी शक्ति के अनुसार हीउसका घोल बनाता है। अधिक मात्रा होने से कुछ घोल कच्चा रह जाता है जिसे आम कहते है। आम का सचय होने से उदरशूल, गैस, सिरदद आदि कई रोग उत्पन्न हो जाते है।

अध्यशन आहार का एक दोष है। पहले खाया हुआ पचा नही, उसी बीच और खाना अध्यशन है। सम्भव हो तो पाच घटे, कम से कम तीन घटे पहले दूसरी बार अन्न न खाया जाए। यह सामान्य मर्यादा रही है। कुछ हल्के भोजन जल्दी पच जाते है पर अन्न तीन घटे पहले नही पचता। पचने से पूर्व खाने से घोल कच्चा ही रह जाता है। प्राचीनकाल मे भोजन दो बार किया जाता था, कभी-कभी तीन बार भी। किन्तु आजकल इस

सिद्धान्त मे परिवर्तन आ गया है। कई डॉक्टर थोडा-थोडा बार-बार खाने को कहते हैं। उनका आशय सभवत हल्के भोजन से है। अलसर जैसे रोग मे बार-बार खाया जाता है। भस्म रोग मे सब कुछ स्वाहा हो जाता है। अलसर और भस्म बडे रोग हैं। तीव्र दोष मे छोटे दोष समा जाते हैं।

भोजन का ऋतुओ से भी सम्बन्ध है। वर्षाकाल मे अग्नि मन्द होती है। इसलिए तपस्या इस ऋतु मे अधिक सुगमता से होती है। शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु मे अग्नि मन्द रहती है। दोनो ऋतुओ मे भोजन का भी अन्तर रहता है। ठूसकर खाने वाले बौद्धिक श्रम नही कर पाते। हल्का भोजन करने वाले अधिक स्वस्थता मे वह कर सकते हैं। रक्त का सचार आनुपातिक होने से उसमे बाधा नही पडती। चिन्तन-मनन करने मे रक्त का दौर मस्तिष्क की ओर होने लगता है, इसलिए आतो को वह कम मात्रा मे मिल पाता है। ज्यादा खाने से रक्त का सचार उदर की ओर ज्यादा होता है, इसलिए मस्तिष्क को वह कम मात्रा मे मिल पाता है। दिमाग को शक्ति न मिलने से कुठा आ जाती है। शक्ति-व्यय के आधार पर ही भोजन की मात्रा निश्चित होती है। इसीलिए शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम मे भोजन की मात्रा और प्रकार का अन्तर होता है। बार-बार चाय पीना भी स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नही है। इससे स्फूर्ति मिल सकती है पर बल, बुद्धि और वीर्य के लिए यह अनुकूल नही है।

निहार

आहार मे अधिक महत्त्व निहार का है। ठीक खाने का महत्त्व तो है पर उससे अधिक महत्त्व है ठीक समय पर उत्सर्ग का।

उत्सर्ग के प्रति कम ध्यान दिया जाता है। उत्सर्ग क्रिया ठीक न होने से अपान वायु दूषित होती है। उससे मानसिक प्रसन्नता नही रहती। गुदा-चक्र का मानसिक प्रसन्नता के साथ गहरा सम्बन्ध है। सामान्यत आहार के असार भाग का चौबीस घटे बाद उत्सर्ग होता है और तीन दिन की अवधि मे तो हो ही जाता है। इस अवधि के बाद भी यदि मल आता म

रहता है तो उससे आलस्य, जडता और बुद्धिमन्दता होती है।

बडी आँतें स्पन्दन के द्वारा मल का विसर्जन करती हैं। तीन कारणों से उसकी गति मे मन्दता आ जाती है—(क) अवस्था के साथ, (ख) वेग-निरोध, (ग) अतिभोजन।

(क) अवस्था के साथ-साथ आतों मे श्लथता आती जाती है। अवस्था-वृद्धि के साथ क्षीण होने वाला अन्त्र-शक्ति का स्पन्दन योगमुद्रा से पुन पुष्ट हो जाता है।

(ख) वेग-निरोध—समय पर उत्सर्ग न करने से आँतें सकेत देना छोड देती हैं। विवशता की परिस्थिति या प्रमाद के कारण कई लोग मल के वेग को रोक लेते हैं। आत के सकेत की बार-बार उपेक्षा करने के कारण वह सकेत देना बन्द कर देती है।

कई लोग बडे गर्व के साथ कहते हैं—हमें दो-दो, तीन-तीन दिन तक मलोत्सर्ग की आवश्यकता का ही अनुभव नही होता। पर वे भूल जाते हैं कि आत के सकेतो की उपेक्षा कर वे उस अनुभूति को खो बैठे हैं।

(ग) अति भोजन—अतिभोजन से आत श्लथ हो जाती है। वह मल को आगे नहीं ढकेल पाती। इस प्रकार कोष्ठ-बद्धता हो जाती है। उससे चिन्तन मे कुठा आती है। प्रसन्नता के लिए अनिवार्य है कि मल-सचय न हो। दो दिन तक खाना न खाया जाए तो भी आतो को पचाने के लिए शेष रह जाता है पर मल का उत्सर्ग न हो तो एक दिन मे बैचेनी हो जाती है। अन्त्र मे मल भरा रहने से अपानवायु का द्वार रुद्ध हो जाता है। फिर वह ऊपर जाती है और हृदय को धक्का लगाती है। जिसे हम सामान्यतया हृदय-रोग समझते हैं वह बहुत बार यही होता है। अपने शरीर के तापमान से अधिक ठण्डा और अधिक गर्म भोजन भी हानिप्रद होता है। उससे आत और दात दोनो विकृत होते हैं। भोजन का सम्बन्ध आवश्यकता-पूर्ति मे है और उसका सम्बन्ध जब स्वाद से हो जाता है तब मर्यादा का अतिक्रमण और विपर्यय होने लगता है।

सिद्धान्त मे परिवर्तन आ गया है। कई डॉक्टर थोडा-थोडा बार-बार खाने को कहते हैं। उनका आशय सभवत हल्के भोजन से है। अलसर जैसे रोग मे बार-बार खाया जाता है। भस्म रोग मे सब कुछ स्वाहा हो जाता है। अलसर और भस्म बडे रोग हैं। तीव्र दोष मे छोटे दोष समा जाते हैं।

भोजन का ऋतुओ से भी सम्बन्ध है। वर्षाकाल मे अग्नि मन्द होती है। इसलिए तपस्या इस ऋतु मे अधिक सुगमता से होती है। शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु मे अग्नि मन्द रहती है। दोनो ऋतुओ मे भोजन का भी अन्तर रहता है। ठूसकर खाने वाले बौद्धिक श्रम नही कर पाते। हल्का भोजन करने वाले अधिक स्वस्थता मे वह कर सकते हैं। रक्त का सचार आनुपातिक होने से उसमे बाधा नही पडती। चिन्तन-मनन करने मे रक्त का दौर मस्तिष्क की ओर होने लगता है, इसलिए आतो को वह कम मात्रा मे मिल पाता है। ज्यादा खाने से रक्त का सचार उदर की ओर ज्यादा होता है, इसलिए मस्तिष्क को वह कम मात्रा मे मिल पाता है। दिमाग को शक्ति न मिलने से कुठा आ जाती है। शक्ति-व्यय के आधार पर ही भोजन की मात्रा निश्चित होती है। इसीलिए शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम मे भोजन की मात्रा और प्रकार का अन्तर होता है। बार-बार चाय पीना भी स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नहीं है। इससे स्फूर्ति मिल सकती है पर बल, बुद्धि और वीर्य के लिए यह अनुकूल नही है।

रहता है तो उससे आलस्य, जडता और बुद्धिमन्दता होती है।

बडी आते स्पन्दन के द्वारा मल का विसजन करती हैं। तीन कारणो मे उसकी गति मे मन्दता आ जाती है—(क) अवस्था के साथ, (ख) वेग-निरोध, (ग) अतिभोजन।

(क) अवस्था के साथ-साथ आतो मे श्लथता आती जाती है। अवस्था-वृद्धि के साथ क्षीण होने वाला अन्त्र-शक्ति का स्पन्दन योगमुद्रा से पुन पुष्ट हो जाता है।

(ख) वेग-निरोध—समय पर उत्सग न करने से आतें सकेत देना छोड देती हैं। विवशता की परिस्थिति या प्रमाद के कारण कई लोग मल के वेग को रोक लेते हैं। आत के सकेत की बार-बार उपेक्षा करने के कारण वह सकेत देना बन्द कर देती है।

कई लोग बडे गर्व के साथ कहते हैं—हमे दो-दो, तीन-तीन दिन तक मलोत्सग की आवश्यकता का ही अनुभव नही होता। पर वे भूल जाते हैं कि आत के सकेतो की उपेक्षा कर वे उस अनुभूति को खो बैठे हैं।

(ग) अति भोजन—अतिभोजन से आत श्लथ हो जाती है। वह मल को आगे नही ढकेल पाती। इस प्रकार कोष्ठ-बद्धता हो जाती है। उसमे चिन्तन मे कुठा आती है। प्रसन्नता के लिए अनिवार्य है कि मल-सचय न हो। दो दिन तक खाना न खाया जाए तो भी आतो को पचाने के लिए शेष रह जाता है पर मल का उत्सर्ग न हो तो एक दिन मे बैचेनी हो जाती है। अन्त्र मे मल भरा रहने से अपानवायु का द्वार रुद्ध हो जाता है। फिर वह ऊपर जाती है और हृदय को धक्का लगाती है। जिसे हम सामान्यतया हृदय-रोग समझते हैं वह बहुत बार यही होता है। अपने शरीर के तापमान से अधिक ठण्डा और अधिक गम भोजन भी हानिप्रद होता है। उससे आत और दात दोनो विकृत होते हैं। भोजन का सम्बन्ध आवश्यकता-पूर्ति से है और उसका सम्बन्ध जब स्वाद से हो जाता है तब मर्यादा का अतिक्रमण और विपर्यय होने लगता है।

विहार

विहार का अर्थ है, नियमित उठने-बैठने, सोने-जागने की चर्या। जिस प्रकार एक साथ बहुत ज्यादा खा लेना हानिकर है उसी प्रकार एक साथ बहुत बैठे रहना भी स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकर है। इससे अग्नि मन्द हो जाती है इसीलिए इस ओर सजग रहने वाले लोग हर डेढ-दो घंटे के बाद उठकर इधर-उधर घूम लेते हैं। बहुत बैठे रहना रोग का बहुत बड़ा कारण है, पर इसका यह मतलब भी नहीं कि दिनभर घूमते रहना या खड़े रहना स्वास्थ्य के लिए ठीक है। इसमे भी जीवन-शक्ति क्षीण होती है। वस्तुत हर क्रिया मे सन्तुलन होना बहुत आवश्यक है।

जो लोग जरा भी आसन नहीं करते या घूमते नही वे लोग स्वास्थ्य के साथ बहुत अन्याय करते हैं। आसन या घूमने का अर्थ है आंतो मे हरकत पैदा करना। योगमुद्रा भी इसका अच्छा साधन है। वह किसी भी प्रकार से हो पर यदि वह नही होती है तो उससे शरीर मे विकार पैदा हो जाते हैं। उससे रक्त गाढा हो जाता है तथा गठिया आदि भयकर व्याधिया मनुष्य को घेर लेती है।

प्रश्न—'कुछ लोग नीद लेने के लिए बहुत देर तक लेटे-लेटे पढते रहते हैं। इससे आखो के स्नायुओ पर तनाव आता है और नीद जल्दी आ जाती है। क्या यह तरीका ठीक है ?'

'मुझे इसका अनुभव ही नही तब मैं कैसे कहू कि यह ठीक है या नही। हा, मैं कह सकता हू कि आखो तथा शरीर का तनाव से मुक्त करना—कायोत्सग करना ठीक है। नीद की चिन्ता करना नीद से दूर भागना है। कायोत्सग करिए, जो होना है वह अपने आप होगा।'

नीद स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक तत्त्व है। क्योकि हर प्रवृत्ति के साथ हमारे शरीर मे विष पैदा होता है। कुछ शरीर-शास्त्रियो ने इस सम्बन्ध मे बहुत अन्वेषण किए ह। उन्होने कई प्रकार के विषो का पता भी लगाया है। नीद के द्वारा हम उन विषो का बाहर फेंकते हैं और शरीर की क्षतिपूर्ति भी करते हैं। नीद कम आती है, उसमे कोष्ठ-बद्धता हो जाती है और स्वास्थ्य का सतुलन बिगड जाता है।

मैं प्रासगिक चर्चाओ से मुक्त होकर अब फिर उसी मूल विषय का स्पश कर रहा हू। शरीर और मन का गहरा सम्बन्ध है। शरीर का मन पर और मन का शरीर पर असर होता है। शरीर की स्वस्थता का केन्द्र उदर है, अत उदर-शुद्धि के सन्दभ को छोडकर इस मानसिक शान्ति की बात सोचें तो वह सोचना पृष्ठभूमि से शून्य होगा।

२ इन्द्रिय-शुद्धि

अनेक लोगो की शिकायत है कि उनका आत्म-निश्चय टिकता नही। वह बार-बार स्खलित हो जाता है। ऐसा क्यो होता है, इस पर हमे सोचना है।

आत्म-निश्चय के स्खलित होने के कारणों की मीमासा मे आचाय शुभचन्द्र ने लिखा है

विहार

विहार का अथ है, नियमित उठने-बैठने, सोने-जागने की चर्या। जिस प्रकार एक साथ बहुत ज्यादा खा लेना हानिकर है उसी प्रकार एक साथ बहुत बैठे रहना भी स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकर है। इससे अग्नि मन्द हो जाती है इसीलिए इस ओर सजग रहने वाले लोग हर डेढ-दो घटे के बाद उठकर इधर-उधर घूम लेते हैं। बहुत बैठे रहना रोग का बहुत बडा कारण है, पर इसका यह मतलब भी नही कि दिनभर घूमते रहना या खडे रहना स्वास्थ्य के लिए ठीक है। इससे भी जीवन-शक्ति क्षीण होती है। वस्तुत हर क्रिया मे सन्तुलन होना बहुत आवश्यक है।

जो लोग जरा भी आसन नहीं करते या घूमते नही वे लोग स्वास्थ्य के साथ बहुत अन्याय करते हैं। आसन या घूमने का अथ है आतो मे हरकत पैदा करना। योगमुद्रा भी इसका अच्छा साधन है। वह किसी भी प्रकार से हो पर यदि वह नही होती है तो उससे शरीर मे विकार पैदा हो जाते हैं। उससे रक्त गाढा हो जाता है तथा गठिया आदि भयकर व्याधिया मनुष्य को घेर लेती हैं।

सोना स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद है। दीघजीवन का यह स्वण-सूत्र है। चर्चिल ने दीघ-आयु प्राप्त की, इसका सबसे बडा रहस्य यही था। वह अधिकतर लेटे-लेटे ही दूसरो को डिक्टेशन आदि दिया करते थे। प्रश्न है, क्या लेटे-लेटे पढना अच्छा है? नहीं, लेटे-लेटे पढना आखो के लिए बहुत खतरनाक है। लेटे रहने की अति भी अच्छी नही है। अच्छाई उचित मात्रा मे है, क्रिया मे नही। एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि ज्यादा सिरहाना देने से रक्त-सचार मे बाधा आती है। क्योकि हमारे शरीर मे सिर एक ऐसा भाग है जहा रक्त-सचार कम होता है, उस पर भी यदि ज्यादा तकिया दे दिया जाता है तो रक्त का वहा पहुचने मे और भी अधिक बाधा पहुचती है। मुझे लगा कि यह बात तथ्य से खाली नही है। कुछ लोग तकिए के बिना सुलाकर चिकित्सा किया करते हैं।

प्रश्न—'कुछ लोग नींद लेने के लिए बहुत देर तक लेटे-लेटे पढते रहते हैं। इससे आखो के स्नायुओ पर तनाव आता है और नींद जल्दी आ जाती है। क्या यह तरीका ठीक है ?'

'मुझे इसका अनुभव ही नहीं तब मैं कैसे कहू कि यह ठीक है या नहीं। हा, मैं कह सकता हू कि आखो तथा शरीर को तनाव से मुक्त करना—कायोत्सग करना ठीक है। नींद की चिन्ता करना नींद से दूर भागना है। कायोत्सग करिए, जो होना है वह अपने आप होगा।'

नींद स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक तत्त्व है। क्योकि हर प्रवृत्ति के साथ हमारे शरीर मे विष पैदा होता है। कुछ शरीर-शास्त्रियो ने इस सम्बन्ध मे बहुत अन्वेषण किए ह। उन्होने कई प्रकार के विषो का पता भी लगाया है। नींद के द्वारा हम उन विषो को बाहर फेंकते हैं और शरीर की क्षतिपूर्ति भी करते हैं। नींद कम आती है, उससे कोष्ठ-बद्धता हो जाती है और स्वास्थ्य का सतुलन बिगड जाता है।

मैं प्रासगिक चर्चाओ से मुक्त होकर अब फिर उसी मूल विषय का स्पश कर रहा हू। शरीर और मन का गहरा सम्बन्ध है। शरीर का मन पर और मन का शरीर पर असर होता है। शरीर की स्वस्थता का केन्द्र उदर है, अत उदर-शुद्धि के सन्दभ को छोडकर इस मानसिक शान्ति की बात सोचें तो वह सोचना पृष्ठभूमि से शून्य होगा।

२ इन्द्रिय-शुद्धि

अनेक लोगो की शिकायत है कि उनका आत्म-निश्चय टिकता नहीं। वह बार-बार स्खलित हो जाता है। ऐसा क्यो होता है, इस पर हमे सोचना है।

आत्म-निश्चय के स्खलित होने के कारणो की मीमासा मे आचाय शुभचन्द्र ने लिखा है

अनिरुद्धाक्षसन्ताना , अजितोग्रपरीषहा ।
अत्यक्तचित्तचापल्या , प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये ।।

जिन व्यक्तियो ने इन्द्रियो के प्रवृत्ति-क्रम का निरोध नही किया या इन्द्रियो को आत्मलीन नही किया, जिन्होने कष्ट सहने का अभ्यास नही किया और जिन्होने चित्त की चचलता से छुट्टी नही पायी, वे लोग अपने निश्चय से स्खलित हो जाते हैं।

आज हमे पहले कारण पर चिन्तन करना है। इन्द्रियो के प्रवृत्ति-क्रम का निरोध या उनकी लीनता कैसे हो ? शरीर-रचना की दृष्टि से मनुष्य पचेन्द्रिय—स्पशन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—युक्त है और उपयोग की दृष्टि मे वह एकेन्द्रिय है—एक समय मे एक इन्द्रिय का ही सवेदन होता है।

इन्द्रिया दो प्रकार की है—ज्ञानात्मक और सवेदनात्मक। श्रोत्र और चक्षु—दो इन्द्रिया सवेदनात्मक नही है, केवल ज्ञानात्मक हैं। शेष तीन सवेदनात्मक हैं। आम मीठा है और नीबू खट्टा है, यह ज्ञान है। इनकी अनुभूति खाने से होती है। सवेदना साक्षात सम्बन्ध के विना नही होती। ज्ञानात्मक इन्द्रिया अपने विषयो को दूर से जान लेती है। सवेदनात्मक इन्द्रियो को अपने विषय से साक्षात् सम्बन्ध करना होता है।

इन्द्रिया अपने आप मे अच्छी या बुरी नही हैं। वे मन के सयोग मे अच्छी या बुरी बनती हैं। इन्द्रिया वतमान का ज्ञान करती हैं और मन त्रिकाल का ज्ञान करता है। मन आख से सबद्ध न हो, उस समय आख खुली होने पर भी अनुभूति नही होती। इन्द्रियो मे सारा प्रकाश मन द्वारा आरोपित होता है। इन्द्रियो की शुद्धि मन शुद्धि से स्वत प्राप्त होती है।

प्राचीन साहित्य मे इन्द्रियो के दमन का उल्लेख मिलता है। आजकल दमन शब्द अप्रिय लगता है, क्योकि दमन का अथ अत्याचार समझा जाता है। दमन शब्द के अथ का अपकष हो गया है, इसलिए ऐसा लगता है। शमन शब्द का प्रयोग प्रिय है, जबकि दमन और शमन मे कोई अन्तर नही है। सस्कृत मे 'शमु दमु च उपशमे' धातु है। दम का वही अथ है, जो शम धातु का है। दूध उफनता है तब पानी के छीटे डालकर उसका शमन किया

जाता है। वैसे ही इन्द्रियो के वेग का शमन या दमन किया जाता है। दमन का अर्थ वलात्कार या अत्याचार नही है।

इन्द्रियो की गति वहिमुखी है। उन्हे वाहर से लौटाकर अपने-अपने गोलक मे स्थापित करना दमन है। उन्हें कष्ट देने और प्रयोग से रोकने की वात आत्मविमुखता की वात है। जहा कष्ट-लीनता है, वहा धर्म कैसे होगा ? धर्म आनन्दानुभूति है। वह आत्म-लीनता मे हो सकता है।

क्या मुनि-जीवन मे कष्टलीनता नही है ?

मैं समझता हू नही है।

क्या कोई कष्ट नही आता ?

आता है, पर कष्ट का आ पडना एक वात है और कष्ट की लीनता दूसरी वात है। भगवान् महावीर के साधना-काल मे अनेक कष्ट उपस्थित हुए। वे कष्टलीन होते तो उन्हे कभी नही झेल पाते। किन्तु वे आत्म-लीन थे, इसलिए उन्हें झेल सके।

शल्य-चिकित्सा के समय रोगी की स्पर्श-सवेदना मूर्च्छित कर दी गई। पेट चीरा गया। कोई मनुष्य सामने खडा है। वह रोगी के कष्ट की कल्पना कर काप उठता है। पर जो रोगी है, उसे कोई कष्ट नही है। उसकी कष्टानुभूति का माध्यम शून्य कर दिया गया है। इस स्थिति मे कष्ट की प्रतीति रोगी मे नही, किन्तु द्रष्टा मे होती है।

इसी प्रकार महावीर ने जो कष्ट झेले, उनकी भयकरता की प्रतीति महावीर को नही किन्तु द्रष्टा को हुई। कष्ट की स्थिति को सात्म्य करने पर ही तो कष्ट होगा, अन्यथा कैसे होगा ?

जैनेन्द्र—यदि आत्म-लीनता मूर्च्छा जैसी स्थिति है तो वह मुझे प्रिय नही हो सकती। उसमे चैतन्य का पुरुषार्थ नही है। और जहा चैतन्य का पुरुषार्थ नही है, वहा अध्यात्म नही हो सकता, ऐसा मैं मानता हू।

मुनिश्री—मैं आत्म-लीनता को चैतन्य की मूर्च्छा नही वता रहा हू। मैं यह वता रहा हू कि आत्म-लीनता घनीभूत हो जाती है, तव चैतन्य इतना पराक्रमी वनता है कि बाह्य के प्रति शून्यता अपने आप आ जाती है।

जैनेन्द्र—कुछ लोग मादक द्रव्य के प्रयोग को साधना का अग मानते हैं, वे क्यो गलत हैं ?

मुनिश्री—वे इसलिए गलत हैं कि मादक द्रव्यो के सेवन से चेतना मूर्च्छित हो जाती है।

जैनेन्द्र—चेतना की मूर्च्छा आपको पसन्द नही है ?

मुनिश्री—नही, कतई नही।

जैनेन्द्र—तब फिर चलिए।

मुनिश्री—मेरी समझ मे वाह्य सवेदना को शून्य कर चैतन्य को पराक्रम-विमुख बनाने की स्थिति आत्म-लीनता नही है। आत्म-लीनता वह स्थिति है, जहा चैतन्य के पराक्रम के सामने वाह्य स्थिति अकिंचित्कर बन जाती है।

शरीर, इन्द्रिय और मन आत्मा के विरोधी नही हैं। वे अचेतन हैं और आत्मा चेतन है। दोनो का अपना-अपना अस्तित्व है। दोनो अपने-अपने गुण मे स्थित है। दोनो को विरोधी मानना हमारी भ्रान्त धारणा होगी। इन्द्रिया बाहर की ओर दौडती हैं, तब कामना जागती है। कामना जागती है, तब मनुष्य उन्हे शत्रु मान बैठता है। हम सोचें, वे बाहर की ओर क्यो दौडती है ? इसीलिए कि हमारा आत्मा के प्रति गाढ अनुराग नही है। हमारा अनुराग बाहर की ओर है। बच्चा कोई वस्तु खाना चाहता है, शरीर उसका स्वस्थ नही है, इसलिए डॉक्टर या माता-पिता बच्चे को बार-बार रोकते हैं। बच्चे मे खाने के प्रति आसक्ति नही होती तो डाक्टर या माता-पिता उसे निषेध नही करते। उसके मन मे खाने की तीव्र भावना है, इसलिए निषेध किया जाता है। जैसे डॉक्टर का निषेध बच्चे की आसक्ति से जुडा हुआ है, वैसे ही सयम व्यक्ति की आसक्ति से जुडा हुआ है। बच्चा अज्ञानी होता है। इसलिए वह दूसरो द्वारा निषिद्ध होता है, किन्तु ज्ञानी मनुष्य अपनी आसक्ति का स्वय निषेध करता है। यही सयम है।

क्या सयम नितान्त निरपेक्ष है ?

निरपेक्ष नही, किन्तु सापेक्ष है।

सयम की अपेक्षा क्या है ?

जब तक आसक्ति है तब तक सयम अपेक्षित है। जैसे ही आसक्ति क्षीण हुई, वैसे ही सयम कृतकार्य हो चला। निरपेक्ष मूल्य अपने अस्तित्व का है। शेष वही बचता है। सयम बन्धन नही है। वह मुक्ति है और वह मुक्ति, जिसका उत्स अनुराग है।

"अनुरागाद् विराग"—यह सयम का सिद्धान्त है। जिसके प्रति अनुराग होगा, उसके प्रतिपक्ष मे विराग अपने आप हो जाएगा। आत्मा के प्रति अनुराग, बाह्य के प्रति विराग और बाह्य के प्रति अनुराग आत्मा के प्रति विराग। बाह्य के प्रति विराग यानी सयम। आत्मा के प्रति विराग यानी असयम। अनुराग की ओर से कोई नियत्रण नही आता, वह विराग की ओर से आता है। जैसे अध्यात्म का पुरुषार्थ प्रबल होता है, वैसे सयम बढता है, नियम कम होते हैं। जैसे अध्यात्म का पुरुषार्थ क्षीण होता है, वैसे सयम घटता है, नियम बढते हैं।

सयम और नियम की दूरी आचारागसूत्र की भाषा मे इस प्रकार व्यक्त हुई है—नेव से अते नेव से दूरे—जिसने नियम ले लिया पर वासना नही छूटी, वह न तो दूर है और न नजदीक। बाहरी मर्यादा से बधा होने के कारण वह करने की स्थिति मे नहीं है और आकाक्षा से मुक्त नही होने के कारण 'नही करने' की अवस्था को भी प्राप्त नही है, इसलिए वह विषय से न तो दूर है और न नजदीक।

धर्म के दो रूप हैं—स्वीकृत और आत्मोदभूत। धर्म आत्मा से उद्भूत होता है। कुए का पानी स्वीकृत नही है और वर्षा का पानी स्वीकृत है। धर्म का प्रभाव सहज है। नियम तट बन सकते हैं, किन्तु प्रवाह नही बन सकते।

प्रश्न—वैराग्य से त्याग होता है या त्याग से वैराग्य आता है ? सयम से नियम होता है या नियम से सयम आता है ?

त्याग से वैराग्य और नियम से सयम आता है, यह कहने मे मुझे कठिनाई का अनुभव हो रहा है। वैराग्य और सयम का मूल अनुराग है, यह मैं पहले कह चुका हू। एक के प्रति गाढ अनुराग, दूसरे के प्रति विराग।

आत्मा के प्रति अनुराग, अनात्म के प्रति विराग। धर्म के प्रति अनुराग, अधम के प्रति विराग। वैराग्य हर व्यक्ति को हो सकता है और हर वस्तु से हो सकता है। अनुराग मे विराग—इसी सिद्धान्त का प्रयोग इन्द्रिय-शुद्धि की साधना मे किया जा सकता है।

इन्द्रिय शुद्धि की समस्या

दृश्य जगत् शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शात्मक है। इसके साथ हमारा सम्बन्ध इन्द्रियो के माध्यम से होता है। दृश्य जगत के साथ मन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। उसका सम्बन्ध इन्द्रियो के माध्यम से ही स्थापित होता है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का इन्द्रियो के साथ सम्बन्ध होता है, उसे रोका नही जा सकता। रोका जा सकता है उनके प्रति होने वाला अनुराग। उत्तराध्ययन मे एक प्रसग है—शिष्य आचार्य से पूछता है—भन्ते! धर्म के प्रति श्रद्धा (घनीभूत अनुराग) होने से क्या प्राप्त होता है? आचार्य कहते हैं—धर्म के प्रति श्रद्धा होने से सुख—इन्द्रिय-विषयो के प्रति विराग—होता है। यह वही सिद्धान्त है—धर्म के प्रति अनुराग और बाह्य के प्रति विराग। सयम की ध्वनि भी यही है। सयम 'यमु उपरमे' धातु से बना है। हमारी लीनता वस्तु के प्रति जा रही थी, वह लौटकर अपने मे आ गई, यही सयम है। सयम मे इन्द्रियो के द्वार बन्द नही होते परन्तु अन्दर के द्वार खुल जाते हैं। पदार्थ के साथ हमारा विरोध नही है। इन्द्रिया और विषय न हमारे शत्रु है और न मित्र। वे अपने आप मे जैसे है, वैसे है।

जयाचार्य ने 'साधक-बाधक' नामक ग्रन्थ मे लिखा है—प्रवृत्ति साधक भी है और बाधक भी है। जब प्रवृत्ति आसक्ति के स्रोत से प्रवाहित होती है तो वह सिद्धि मे बाधक बन जाती है। वह अनासक्ति के स्रोत से प्रवाहित होती है तो वह साधक बन जाती है। मन का शरीर के प्रति जो विरोध-भाव है, वह हमारी दुर्बलता के कारण है। दोनो का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। जो दोनो के स्वरूप म ऐक्य मान रखा है, उसे भिन्न-भिन्न करना

है। इसीलिए सकल्प करते हैं कि 'मैं शरीर से भिन्न हू।' आत्मा मे आनन्द अनन्त है। शरीर को कष्ट देने मे वह नही है। यह भापा वन गई है कि शरीर को जितना कष्ट दोगे उतना ही धम होगा। मैं आपसे पूछना चाहता हू, धर्म का सम्बन्ध कष्ट से है या आत्मानुभूति से ? यदि आत्मानुभूति से है, तो कष्ट हो या न हो, धम होगा। यदि आत्मानुभूति नही है—चैतन्य का पुरुपार्थ नही है तो कष्ट हो या न हो, धम नही होगा। एक व्यक्ति मास (तीस दिन) की तपस्या करता है और पारण मे कुश के अग्र भाग पर टिके उतना खाता है। फिर मास की तपस्या करता है। ऐसे तपस्वी की आत्मा यदि ऋजु नही है तो वह अनन्त जन्म-मरण तक ससार-भ्रमण करता है, मुक्त नही होता। यदि काया को कष्ट देने मात्र से मुक्ति होती तो कभी हो जाती। सहजभाव से साधना चले, उसमे यदि कष्ट आएँ तो उन्हे सहन करें। इससे आध्यात्मिकता प्रज्वलित होगी। इन्द्रियो को कष्ट देना हमारा लक्ष्य नही है। हमारा लक्ष्य है, उन्हें अनासक्ति के स्रोत से प्रवाहित करना। यह प्रतिसलीनता या प्रत्याहार का सिद्धान्त है। इसके उपयोग से इन्द्रियो की गति वहिर्मुखी कम और अन्तर्मुखी अधिक हो जाती है। फलत उनकी ग्रहण-शक्ति की मर्यादा वदल जाती है—आवश्यक अश गृहीत होता है, अनावश्यक अश परिहृत हो जाता है। इस प्रकार अव्यय और व्यय के वीच एक स्पष्ट रेखा खिच जाती है।

जैनेन्द्र—इस आत्मलीनता मे मुझे वहुत खतरा दिखाई देता है। यह स्वरति का भाव आगे चल स्वार्थ मे बदल जाता है। स्वार्थ की प्रेरणा मे मुझे कोई रस नहीं है।

मुनिश्री—आप स्वरति का जिस अर्थ मे प्रयोग कर रहे हैं, वह आत्मलीनता से भिन्न है। आत्मलीनता से परमार्थ की प्रेरणा प्रवल होती है। स्वार्थ मोह का रूपान्तर है जवकि आत्मलीनता मोह का विसर्जन। आसक्ति का स्रोत कपाय है। कपाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। कपाय का त्याग नहीं होता। व्यवहार की भापा मे कहते हैं क्रोध का त्याग कर दिया। अग्नि पर राख डालने से वह ढक जाती है पर वह वुझ नही

आत्मा के प्रति अनुराग, अनात्म के प्रति विराग। धर्म के प्रति अनुराग, अधर्म के प्रति विराग। वैराग्य हर व्यक्ति को हो सकता है और हर वस्तु से हो सकता है। अनुराग में विराग—इसी सिद्धान्त का प्रयोग इन्द्रिय-शुद्धि की साधना में किया जा सकता है।

इन्द्रिय शुद्धि की समस्या

दृश्य जगत शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शात्मक है। इसके साथ हमारा सम्बन्ध इन्द्रियों के माध्यम से होता है। दृश्य जगत् के साथ मन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध इन्द्रियों के माध्यम से ही स्थापित होता है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है, उसे रोका नहीं जा सकता। रोका जा सकता है उनके प्रति होने वाला अनुराग। उत्तराध्ययन में एक प्रसंग है—शिष्य आचार्य से पूछता है—भन्ते! धर्म के प्रति श्रद्धा (घनीभूत अनुराग) होने से क्या प्राप्त होता है? आचार्य कहते हैं—धर्म के प्रति श्रद्धा होने से सुख—इन्द्रिय-विषयों के प्रति विराग—होता है। यह वही सिद्धान्त है—धर्म के प्रति अनुराग और बाह्य के प्रति विराग। संयम की ध्वनि भी यही है। संयम 'यमु उपरमे' धातु से बना है। हमारी लीनता वस्तु के प्रति जा रही थी, वह लौटकर अपने में आ गई, यही संयम है। संयम में इन्द्रियों के द्वार बन्द नहीं होते परन्तु अन्दर के द्वार खुल जाते हैं। पदार्थ के साथ हमारा विरोध नहीं है। इन्द्रियां और विषय न हमारे शत्रु हैं और न मित्र। वे अपने आप में जैसे हैं, वैसे हैं।

जयाचार्य ने 'साधक-बाधक' नामक ग्रन्थ में लिखा है—प्रवृत्ति साधक भी है और बाधक भी है। जब प्रवृत्ति आसक्ति के स्रोत में प्रवाहित होती है तो वह सिद्धि में बाधक बन जाती है। वह अनासक्ति के स्रोत से प्रवाहित होती है तो वह साधक बन जाती है। मन का शरीर के प्रति जो विरोध-भाव है, वह हमारी दुर्बलता के कारण है। दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। जो दोनों के स्वरूप में ऐक्य मान रखा है, उसे भिन्न-भिन्न करना

है। इसीलिए सकल्प करते हैं कि 'मैं शरीर से भिन्न हू।' आत्मा मे आनन्द अनन्त है। शरीर को कष्ट देने मे वह नही है। यह भाषा बन गई है कि शरीर को जितना कष्ट दोगे उतना ही धर्म होगा। मैं आपसे पूछना चाहता हू, धर्म का सम्बन्ध कष्ट से है या आत्मानुभूति से ? यदि आत्मानुभूति से है, तो कष्ट हो या न हो, धर्म होगा। यदि आत्मानुभूति नही है—चैतन्य का पुरुषार्थ नही है तो कष्ट हो या न हो, धर्म नही होगा। एक व्यक्ति मास (तीस दिन) की तपस्या करता है और पारण मे कुश के अग्र भाग पर टिके उतना खाता है। फिर मास की तपस्या करता है। ऐसे तपस्वी की आत्मा यदि ऋजु नही है तो वह अनन्त जन्म-मरण तक ससार-भ्रमण करता है, मुक्त नही होता। यदि काया को कष्ट देने मात्र से मुक्ति होती तो कभी हो जाती। सहजभाव से साधना चले, उसमें यदि कष्ट आएँ तो उन्हें सहन करें। इससे आध्यात्मिकता प्रज्वलित होगी। इन्द्रियो को कष्ट देना हमारा लक्ष्य नही है। हमारा लक्ष्य है, उन्हे अनासक्ति के स्रोत से प्रवाहित करना। यह प्रतिसलीनता या प्रत्याहार का सिद्धान्त है। इसके उपयोग से इन्द्रियो की गति बहिर्मुखी कम और अन्तर्मुखी अधिक हो जाती है। फलत उनकी ग्रहण-शक्ति की मर्यादा बदल जाती है—आवश्यक अश गृहीत होता है, अनावश्यक अश परिहृत हो जाता है। इस प्रकार अव्यर्थ और व्यर्थ के बीच एक स्पष्ट रेखा खिच जाती है।

जैनेन्द्र—इस आत्मलीनता मे मुझे बहुत खतरा दिखाई देता है। यह स्वरति का भाव आगे चल स्वार्थ मे बदल जाता है। स्वार्थ की प्रेरणा मे मुझे कोई रस नही है।

मुनिश्री—आप स्वरति का जिस अर्थ मे प्रयोग कर रहे हैं, वह आत्मलीनता से भिन्न है। आत्मलीनता से परमार्थ की प्रेरणा प्रबल होती है। स्वार्थ मोह का रूपान्तर है जबकि आत्मलीनता मोह का विसर्जन। आसक्ति का स्रोत कषाय है। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। कषाय का त्याग नहीं होता। व्यवहार की भाषा मे कहते हैं क्रोध का त्याग कर दिया। अग्नि पर राख डालने से वह ढक जाती है पर वह बुझ नही

आत्मा के प्रति अनुराग, अनात्म के प्रति विराग। धर्म के प्रति अनुराग, अधर्म के प्रति विराग। वैराग्य हर व्यक्ति को हो सकता है और हर वस्तु से हो सकता है। अनुराग से विराग—इसी सिद्धान्त का प्रयोग इन्द्रिय-शुद्धि की साधना में किया जा सकता है।

इन्द्रिय शुद्धि की समस्या

दृश्य जगत् शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शात्मक है। इसके साथ हमारा सम्बन्ध इन्द्रियों के माध्यम से होता है। दृश्य जगत के साथ मन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध इन्द्रियों के माध्यम से ही स्थापित होता है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है, उसे रोका नहीं जा सकता। रोका जा सकता है उनके प्रति होने वाला अनुराग। उत्तराध्ययन में एक प्रसग है—शिष्य आचार्य से पूछता है—भन्ते! धर्म के प्रति श्रद्धा (घनीभूत अनुराग) होने से क्या प्राप्त होता है? आचार्य कहते हैं—धर्म के प्रति श्रद्धा होने से सुख—इन्द्रिय-विषयों के प्रति विराग—होता है। यह वही सिद्धान्त है—धर्म के प्रति अनुराग और बाह्य के प्रति विराग। सयम की ध्वनि भी यही है। सयम 'यमु उपरमे' धातु से बना है। हमारी लीनता वस्तु के प्रति जा रही थी, वह लौटकर अपने में आ गई, यही सयम है। सयम में इन्द्रियों के द्वार बन्द नहीं होते परन्तु अन्दर के द्वार खुल जाते हैं। पदार्थ के साथ हमारा विरोध नहीं है। इन्द्रिया और विषय न हमारे शत्रु हैं और न मित्र। वे अपने आप में जैसे है, वैसे है।

जयाचार्य ने 'साधक-बाधक' नामक ग्रन्थ में लिखा है—प्रवृत्ति साधक भी है और बाधक भी है। जब प्रवृत्ति आसक्ति के स्रोत से प्रवाहित होती है तो वह सिद्धि में बाधक बन जाती है। वह अनासक्ति के स्रोत से प्रवाहित होती है तो वह साधक बन जाती है। मन का शरीर के प्रति जो विरोध-भाव है, वह हमारी दुर्बलता के कारण है। दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। जो दोनों के स्वरूप में ऐक्य मान रखा है, उसे भिन्न-भिन्न करना

है। इसीलिए सकल्प करते है कि 'मैं शरीर से भिन्न हू।' आत्मा मे आनन्द अनन्त है। शरीर को कष्ट देने मे वह नही है। यह भाषा बन गई है कि शरीर को जितना कष्ट दोगे उतना ही धर्म होगा। मैं आपसे पूछना चाहता हू, धर्म का सम्बन्ध कष्ट से है या आत्मानुभूति से ? यदि आत्मानुभूति है, तो कष्ट हो या न हो, धर्म होगा। यदि आत्मानुभूति नही है—चैतन्य का पुरुषार्थ नही है तो कष्ट हो या न हो, धर्म नही होगा। एक व्यक्ति मास (तीस दिन) की तपस्या करता है और पारण मे कुश के अग्र भाग पर टिके उतना खाता है। फिर मास की तपस्या करता है। ऐसे तपस्वी की आत्मा यदि ऋजु नही है तो वह अनन्त जन्म-मरण तक ससार-भ्रमण करता है, मुक्त नही होता। यदि काया को कष्ट देने मात्र से मुक्ति होती तो कभी हो जाती। सहजभाव मे साधना चले, उसमे यदि कष्ट आएँ तो उन्हें सहन करें। इससे आध्यात्मिकता प्रज्वलित होगी। इन्द्रियो को कष्ट देना हमारा लक्ष्य नही है। हमारा लक्ष्य है, उन्हे अनासक्ति के स्रोत से प्रवाहित करना। यह प्रतिसलीनता या प्रत्याहार का सिद्धान्त है। इसके उपयोग से इन्द्रियो की गति बहिर्मुखी कम और अन्तर्मुखी अधिक हो जाती है। फलत उनकी ग्रहण-शक्ति की मर्यादा बदल जाती है—आवश्यक अश गृहीत होता है, अनावश्यक अश परिहृत हो जाता है। इस प्रकार अर्थ और व्यर्थ के बीच एक स्पष्ट रेखा खिच जाती है।

जैनेन्द्र—इस आत्मलीनता मे मुझे बहुत खतरा दिखाई देता है। यह स्वरति का भाव आगे चल स्वार्थ मे बदल जाता है। स्वार्थ की प्रेरणा मे मुझे कोई रस नही है।

मुनिश्री—आप स्वरति का जिस अर्थ मे प्रयोग कर रहे है, वह आत्मलीनता से भिन्न है। आत्मलीनता से परमार्थ की प्रेरणा प्रबल होती है। स्वार्थ मोह का रूपान्तर है जबकि आत्मलीनता मोह का विसर्जन। आसक्ति का स्रोत कषाय है। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। कषाय का त्याग नहीं होता। व्यवहार की भाषा मे कहते हैं क्रोध का त्याग कर दिया। अग्नि पर राख डालने से वह ढक जाती है पर वह बुझ नही

जाती। क्रोध का त्याग नहीं होता, वह व्यक्त होता है। चैतन्य उद्‌बुद्ध होने से क्रोध की क्षमता नहीं रहती। त्याग की भाषा संकल्प की भाषा है और व्यक्त की भाषा संकल्प-सिद्धि की भाषा है। संकल्प की भाषा अन्तर् की भावना का स्पर्श करती है पर तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकती। यदि भाषा और अर्थ में तादात्म्य होता तो मैं अहिंसक हूं — इतना कहने मात्र से हर कोई अहिंसक बन जाता। शब्द के उच्चारण मात्र से अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। यदि होती तो लड्डू का नाम लेने मात्र से पेट भर जाता। किन्तु ऐसा होता नहीं है। संयम और विधि (कानून) में यही अन्तर है। कानून बाहर की भाषा है और संयम अंतर् की चेतना का जागरण है।

आसक्ति ऋणात्मक (निषेधात्मक) शक्ति है और अनासक्ति धनात्मक शक्ति है। धनात्मक शक्ति मनुष्य का स्वभाव है। उसका विकास होने पर ऋणात्मक शक्ति जो कि स्वभाव नहीं है अपने आप नष्ट हो जाती है। इन्द्रिय-शुद्धि के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

३ प्राणापान-शुद्धि

हमारे शरीर में वायु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उससे शरीर और मन दोनों प्रभावित हैं। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। वायु के मुख्य प्रकार पांच हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। इनमें से प्राण और अपान पर हमें कुछ चिन्तन करना है। श्वास लिया जाता है, वह प्राण है और छोड़ा जाता है वह अपान है। दोनों का संयुक्त शब्द है, प्राणापान। बौद्ध-साहित्य में 'आनापान सती' और जैन-साहित्य में 'आनापान निरोध' की चर्चा मिलती है।

प्राण का केन्द्र नासिकाग्र है। उस पर मन टिकते ही मूल बंध हो जाता है, मूल नाडी तन जाती है। नासिकाग्र पर मन और प्राण के योग की यह

निश्चित सूचना है। मूल नाडी के तनन का अर्थ है वीर्य के अधोगमन की समाप्ति और ऊर्ध्वारोहण का प्रारम्भ। मैंने एक डाक्टर से मूल नाडी के विषय मे पूछा। उसने कहा—हमारे चिकित्सा-शास्त्र मे ऐसी कोई नाडी नही है, जिससे वीर्य का ऊर्ध्वारोहण हो। इस विषय पर मैं लम्बे समय तक सोचता रहा कि ऊर्ध्वारोहण के बिना ऊर्ध्वरेता होने की बात सही कैसे होगी ? किन्तु अब मैं यह कहने की स्थिति मे हू कि वीर्य का ऊर्ध्वारोहण हो, ऐसी नाडी शरीर मे है और ऊर्ध्वरता की प्रक्रिया भी सही है।

रेतस् का मूल रक्त है। वह समस्त शरीर मे सचालित होता रहता है। काम-वासना सक्रिय होती है, तब रक्त का प्रवाह वृषण ग्रन्थियो मे अधिक होता है। और वहा रक्त का रूपान्तरण रेतस् हो जाता है। वह पूर्ण मात्रा मे सचित होकर वासना को उद्दीप्त करता है और अन्त मे क्षरित हो जाता है। उसका क्षरण अपान वायु मे होता है। प्राणवायु वश मे हो तो वह क्षरण रुक जाता है।

क्षरण रुकने के दो अर्थ हो सकते है—वीर्य का न बनना और बने हुए का पाचन होना यानी रूपान्तरण होना।

प्राणवायु वश मे हो तो रक्त का प्रभाव वृषण ग्रन्थियो मे कम होता है। रक्त का प्राण-तत्त्व सीधा ओजस् मे बदल जाता है।

योग-विद्या मे वीर्य का स्तम्भन और वीर्य का आकर्षण—ये दो शब्द प्रचलित हैं। रेतस् का पात होते-होते रुक जाता है, वह स्तम्भन है और रक्त से सात्म्य रहकर मस्तिष्क तक पोष देता है वह आकर्षण है। नवनीत दूध मे व्याप्त है। उससे पृथक् नही है तो दूध दूध कहलाएगा, नवनीत नही। इसी प्रकार रेतस् रक्त मे व्याप्त है। उससे पृथक् नही है तो रक्त रक्त ही कहलाएगा, रेतस् नही। फिर भी दूध मे जैसे नवनीत की सत्ता है, वैसे ही रक्त मे रेतस् की सत्ता है। रेतस् रक्त से अलग न हो और ओज रूप मे बदल जाए, यही ऊर्ध्वरेता होने की प्रक्रिया है। रेतस् का प्राणायाम या सकल्प-शक्ति द्वारा ओज रूप मे पाचन या रूपान्तरण करना भी ऊर्ध्वरेता होने की प्रक्रिया है।

शरीर मे सात धातु है। सातवीं धातु रेतस् है। सातो धातुओ का सूक्ष्म रूप ओज है। वह धातु नहीं, धातु का सार है। रेतस् का क्षरण अधिक होता है तो ओज कम बनता है और उसका क्षरण कम होता है या वह नहीं होता है तो ओज अधिक बनता है। ओज की वृद्धि से दृढ निश्चय, धैर्य, सहिष्णुता कुशाग्रीय प्रतिभा आदि गुण विकसित होते हैं। इस विकास की पृष्ठभूमि मे बहुत बडा कर्तव्य प्राणवायु का है। इसी दृष्टि से मैं कह रहा था कि प्राण हमारी शक्ति का आधार है।

प्राणवायु का स्थान नासाग्र से पादागुष्ठ तक है। उसमे नासाग्र, हृद् और नाभि मुख्य है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दो मे महावीर की मुद्रा के दो अंग माने हैं—पर्यकासन मे शरीर का शिथिलीकरण और नासाग्र मे दृष्टि का स्थिरीकरण—

वपुश्च पर्यकशय श्लथ च, दृशौ च नासा नियते स्थिरे च।
न शिक्षितेय परतीर्थनाथैं, जिनेन्द्र! मुद्रापि तवान्यदास्ताम्॥

नासाग्र पर ध्यान करने से श्वास के आने-जाने के क्रम का बोध होता है। उससे प्राणवायु वश मे हो जाता है। प्राणवायु के वश मे होने का अर्थ है मन और बिन्दु (वीर्य) का वश मे होना।

प्राण, मन और बिन्दु की विजय-रेखा एक ही है। प्राण की विजय होने से मन और बिन्दु की, मन की विजय होने से प्राण और बिन्दु की तथा बिन्दु की विजय होने से प्राण और मन की विजय अपने आप हो जाती है। तन्त्र-शास्त्र मे प्राण को मन का नाथ कहा गया है—

इन्द्रियाणा मनो नाथ, मनोनाथस्तु मारुत।
मारुतस्य लयो नाथ, स लयो नादमाश्रित॥

प्राणवायु के गमनागमन के साथ मन का योग करें और उसमें लीन हो जाए। छह मास के अभ्यास से क्लेश और दुःख की मात्रा कम हो जाएगी।

(१) सीधा लेटकर सोने के बाद सिर को थोडा-सा ऊपर उठाकर नाभि को देखें।

(२) जालधर बध कर नाभि को देखें।

४ अपानवायु और मन शुद्धि

अपानवायु का मुख्य स्थान नाभि मे नीचे और पृष्ठभाग के पार्ष्णिदेश तक है। उसका काय है मल, मूत्र, वीय आदि का विसजन करना अर्थात् वाहर निकालना। उसके विकृत होने मे मन मे अप्रसन्नता होती है और उसकी शुद्धि से प्रसन्नता होती है। नीचे के भाग मे होने वाले मस्सा आदि तथा वीय-सम्वन्धी रोग अपानवायु दूषित होने से होते हैं, उसकी शुद्धि मे नही होते। अपानवायु का सम्वन्ध पेट-शुद्धि से ही है। पेट की अशुद्धता मे कोष्ठबद्धता हो जाती है तथा कृमि आदि जीव पैदा हो जाते हैं। उसकी शुद्धि के लिए अश्विनी मुद्रा तथा नाभि पर ध्यान करना श्रेष्ठ प्रयोग है।

शरीर की शक्ति का स्रोत नाभि और गुदा के बीच मे है। अपान को जीतने से शक्ति का स्रोत विकसित होता है। घोडे की शक्ति का रहस्य उसकी सकोच-विकोच की मुद्रा है। अपानवायु दूषित हो जाए तो सौ बार अश्विनी मुद्रा करने से शुद्ध होती है। मूलबन्ध भी इसमे सहयोगी बनता है। प्राणवायु को वाहर निकालकर यथाशक्ति रोकने से भी अपानवायु शुद्ध होती है।

हठयोग का अथ है—प्राण और अपान का योग। 'ह—सूर्य और ठ—चन्द्र'—हठ का अथ है सूय और चन्द्र का मिलना। रहस्यवादी कविगण ने सूर्य और चाद के मिलने की चर्चा की है। सूय और चाद का मिलन अर्थात् रात और दिन का मिलाप। सूय और चाद का मिलन नाभि मे होता है। मूलवन्ध के साथ श्वास को नाभि मे ले-जाने से प्राण और अपान का योग होता है। दोनो के योग का अर्थ है वैषम्य का विनाश। वैषम्य ही मानसिक

रोग, शारीरिक रोग और पाप है। साम्य ही स्वस्थता और धर्म है। साधु के लिए विधान है कि वह गोचरी से आने के बाद भोजन से पूर्व क्षण-भर विश्राम करे— वीसमेज्ज खण मुणी'। तेज चलकर आने से धातुएं विषम बन जाती है। उस समय खाया हुआ अमृत भी जहर बन जाता है। पं० लालन ने आचार्यश्री से कहा— साधुओं के बीमार होने का एक कारण उनकी गोचरी है। गोचरी से आते ही जो आहार करते हैं, वे बीमारी को निमंत्रण देते हैं। कठोर परिश्रम के बाद तत्काल खाने और पीने से रोग पैदा हो जाते हैं। धातुओं को सम करने के लिए दस-पन्द्रह मिनट तक विश्राम करना चाहिए।" मन की उच्चावच अवस्था में भी नहीं खाना चाहिए। क्रोध, काम-वासना, लोभ आदि मानसिक भावों में किया गया भोजन विष-रूप में बदल जाता है। विषमता आध्यात्मिक दोष ही नहीं है किन्तु शारीरिक और मानसिक दोष भी है। समता आध्यात्मिक गुण ही नहीं अपितु शारीरिक और मानसिक गुण भी है। प्राण और अपान की विषमता यानी शरीर और मन की अस्वस्थता, प्राण और अपान की समता यानी शरीर और मन की स्वस्थता।

मन शुद्धि

मन क्या है? जो चेतना बाहर जाती है, उसका प्रवाहात्मक अस्तित्व ही मन है। शरीर का अस्तित्व जैसे निरन्तर है, वैसे भाषा और मन का अस्तित्व निरन्तर नहीं है, किन्तु प्रवाहात्मक है। 'भाष्यमाणा' भाषा होती है। भाषण से पहले भी भाषा नहीं होती और भाषण के बाद भी भाषा नहीं होती। भाषा केवल भाषण-काल में होती है—भासिज्जमाणी भासा। इसी प्रकार 'मन्यमान' मन होता है। मनन से पहले भी मन नहीं होता और मनन के बाद भी मन नहीं होता। मन केवल मनन-काल में होता है—'मणिज्जमाणे मणे।' मन एक क्षण में एक होता है—'एगे मणे तंमि तंमि समयंमि।' मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है। इन्द्रियों के स्पर्श आदि पांच विषय हैं। इन विषयों में सारी वस्तुएं समाविष्ट हैं। इन्द्रियों के द्वारा हम इन

वस्तु को और उसके स्थूल रूपों को पकड़ते हैं। शीत और उष्ण के स्पर्श से वस्तु का ज्ञान होता है। आम के रस के स्वाद से हम आम को पहचान लेते हैं। रस ही आम नहीं है, उसमें रूप भी है पर हम इसके द्वारा उसको पहचान लेते हैं। गंध के द्वारा भी बाह्य-जगत् से हमारा सम्पर्क होता है। रूप और संस्थान भी सम्पर्क के माध्यम हैं। शब्द के माध्यम से भी हमारा बाह्य जगत् से सम्बन्ध जुड़ता है। मन का बाह्य से सीधा सम्पर्क नहीं होता। वह इन्द्रियों के माध्यम से होता है।

बुद्धि और मन में भेद क्या है? बुद्धि और मन एक ही चेतना के तारतम्य रूप हैं। सूर्य एक है, पर उसका प्रकाश खण्ड-खण्ड होकर खिड़की आदि अनेक द्वारों से आता है। उससे अनेक द्वारों के अनेक रूप बन जाते हैं। वर्षा का एक ही जल तालाब, गड्ढे और समुद्र में जाकर भिन्न-भिन्न रूप ले लेता है। जयाचार्य ने लिखा है—एक चौकी रेत में दब गई। कहां से खोदा तो उसका एक कोना दिखाई दिया। दूसरी ओर खोदने से दूसरा कोना दिखाई दिया। चार कोने चार वस्तुएं बन गई। पूरी खुदाई से वह एक अखण्ड चौकी हो गई। वैसे ही हमारी चेतना का जितना आवरण हटता है, वहां उसका रूप भिन्न-भिन्न हो जाता है। बुद्धि, इन्द्रिय और मन एक ही चेतना के तारतम्य रूप हैं।

वास्तव में साम्यावस्था ही मन शुद्धि है। सामायिक का भी यही अर्थ है। साधु जीवन एक प्रकार से सामायिक ही है पर उसमें भी साम्य की विशेष साधना की अपेक्षा है। इसलिए उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा—'अनुत्तर साम्यमुपैति योगी'—योगी जन विशेष साम्य का अनुभव करते हैं।

विषमता के अनेक हेतु हैं—सम्मान, अपमान, आज्ञा, अनुशासन आदि। जब तक ये मानदण्ड रहते हैं तब तक पुत्र यदि पिता की आज्ञा नहीं मानता है तो पिता को गुस्सा आ जाता है, क्योंकि यह उसके सम्मान को ठेस है। पत्नी यदि पति की अवज्ञा कर देती है तो पति की शान्ति भंग हो जाती है। इसलिए जब तक ये मापदण्ड नहीं बदलते तब तक मानसिक समाधि नहीं रह सकती।

सृष्टि का स्वरूप ही द्वन्द्वात्मक है। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मृत्यु आदि विरोधी युगल हमारे सामने हैं। इसीलिए योगी को इनमे सम रहने का उपदेश किया गया है। लाभ मे हर्ष और अलाभ में खेद विषमता का प्रतीक है। समता आत्मानन्द है। पर इसका यह अर्थ नही कि समता मे मनुष्य प्रवृत्ति-शून्य हो जाता है। समता तो पुरुषार्थ की प्रतीक है। बाह्य-निवृत्ति का अर्थ है, अन्त -प्रवृत्ति। क्योंकि जो भी अस्तित्व-धर्मा पदार्थ है, उसमे क्रियाकारित्व अवश्य है। न्यायशास्त्र की भाषा मे सत् की परिभाषा है 'अर्थक्रियाकारित्व हि सत्'। अत बिना क्रिया के अस्तित्व की कल्पना ही नही हो सकती। जैन-दर्शन मे पदार्थ को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना गया है। उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवता उसके अवश्यभावी गुण है। अत अर्थ-क्रिया के बिना पदार्थ रह ही नही सकता। जिसमे ये तीनो नही है, वह अपदार्थ है, जैसे आकाश-कुसुम। अत आत्मा यदि अस्तित्व-धर्मा पदार्थ है तो वह क्रिया-शून्य हो ही नही सकता।

वास्तव म धर्म स्वीकृत नही अपितु आत्मा का सहज गुण है—यह उद्भूत है। जो इस स्वरूप को समझ लेता है, वह तीनो ही लोक का स्वामी बन जाता है।

सामान्यत हम लोग समझते है कि मन चचल है। उसमे विक्षेप होता है। उससे अशुद्धि भर जाती है। पर विक्षेप वहा होता है, जहा इन्द्रिय, मन और पवन की विषमता होती है। इनकी समता होने पर विक्षेप अपने आप समाप्त हो जाता है। समता की स्थापना का माध्यम है समताल श्वास। जितनी मात्रा मे एक श्वास लिया, उतनी मात्रा मे दूसरा, तीसरा श्वास लिया। यह समताल श्वास है। समस्वर और समलय मे तन्मयता के साथ शक्ति भी विकसित होती है।

मन शुद्धि का एक प्रकार नाडी-सस्थान के दर्शन का भी है। लेटकर दाहिने पैर के अगूठे पर ध्यान केन्द्रित करने से मन शान्त हो जाता है। वस्तुत स्नायविक रचना बडी दुर्गम है। जो व्यक्ति इसे पहचान लेता है, वह बहुत बडे-बडे काम कर सकता है। मै कुछ ऐसे व्यक्तियो को भी जानता

हू, जिनके पास कोई विशेषज्ञता नहीं है पर गुरुगम मे उन्हे कोई स्नायु रहस्य प्राप्त हो गया और वे मामूली झटके मे ही भयकर पेट-दर्द आदि रोगो की चिकित्सा कर देते हैं।

आकाश-दर्शन से भी ध्यान केन्द्रित होने म सहयोग मिलता है। क्योकि आकाश अनन्त है। अनन्त का दर्शन स्वभावत ही हम अपनी आत्म-अनन्तता का बोध कराता है और हम अपने आप मे खो जाते हैं। इसीलिए कई योगी केवल आकाश-दर्शन की पद्धति से भी ध्यान करते हैं।

मन शुद्धि के साथ दृढता स एक विचार पर ध्यान केन्द्रित करने से हम विचार-सप्रेषण भी कर सकते हैं।

५ स्नायविक तनाव का विसर्जन

स्नायविक तनाव के विसर्जन को ही दूसरे शब्दो मे शिथिलीकरण कहा जा सकता है। उसकी आवश्यकता तब होती है जबकि शरीर मे तनाव हो। इसलिए शिथिल होने के लिए यह समझना आवश्यक है कि तनाव क्या है तथा वह क्यों पैदा होता है ?

आजकल तनाव शब्द बहुप्रचलित हो गया है। क्योकि उद्योगीकरण जितना बढ रहा है, उससे मानसिक तनाव भी उतने ही बढ रहे हैं। पिछले चातुर्मास मे जापान के सहायक राजदूत आचार्यश्री के पास आए थे। आचार्यश्री ने उनसे प्रश्न किया, 'क्या आप भी कभी शिथिलीकरण—कायोत्सग करते ह ?' उन्होने बताया, 'हमारे देश मे तो कायोत्सग बहुत प्रचलित है।' इसी प्रकार अमेरिका तथा जमनी के विशेषज्ञो ने भी बताया कि कायोत्सग के बिना हमारे देश मे तो जीना भी बहुत कठिन है।,बल्कि जापान में तो विश्वविद्यालय से निकलने वाले अधिकाश विद्यार्थियो को छह महीने के लिए एकान्त मे इसका प्रशिक्षण लेना आवश्यक होता है। उसके बाद ही वे कमक्षेत्र मे उतरते हैं। यही कारण है कि वहा के लोग बहुत परिश्रमी होते हैं। उन्होंने बताया कि भारतीय लोग बोलते अधिक हैं

तथा काम कम करते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि यहा के लोग कायोत्सर्ग नही करते। इसीलिए इनमे अनुशासन का भाव भी कम होता है।

यह सच है कि श्रम से तनाव बढता है। यह भी सच है कि शारीरिक श्रम से उतना तनाव नही बढता जितना कि मानसिक उलझनो से बढता है। मानसिक तनाव के प्रमुख कारण हैं—भय, घृणा, क्रोध, कपट आदि।

भय इसके कारण मनुष्य मे अस्वाभाविक वृत्तिया पैदा होती हैं। सचमुच भय के परिणाम बडे कल्पनातीत होते हैं। मनोवैज्ञानिको ने भी इस पर बहुत प्रकाश डाला है। भय के बारे मे अनेक अनुसधान हुए है। आयुर्वेदिक तथा होम्योपैथिक पद्धति मे भी इस पर बडी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। उनका कहना है कि भय से शरीर मे ऐंठन पैदा होती है। इससे स्नायुओ पर अस्वाभाविक दबाव पडता है और वे काय करने मे अक्षम बन जाते हैं। यह तो हम स्पष्ट देखते हैं कि भय के समय हमारे शरीर की क्या स्थिति होती है। सारे शरीर मे एक प्रकार की सिकुडन-सी पैदा हो जाती हैं। कभी-कभी तो आकस्मिक भय से हार्ट फेल तक हो जाता है। शास्त्रो मे अकाल-मृत्यु के सात कारणो मे से भय को भी एक कारण माना है। वैज्ञानिक लोग भी इसका समथन करते है।

घृणा घृणा की अभिव्यक्ति का साहित्य मे नाक-भौह सिकोडना कहकर बताया गया है। इससे स्पष्ट है, जब हमारे मन मे घृणा के भाव आते है, तब शरीर मे अपने आप तनाव आ जाता है। उससे रक्त-क्रिया मे परिवर्तन हो जाता है तथा क्षीणता प्राप्त होती है।

क्रोध यह तो प्रमाणसिद्ध बात है कि क्रोधी मनुष्य के मन मे हमेशा तनाव बना रहता है। इससे वह किसी भी काय को मुक्तभाव से नही कर पाता। वैज्ञानिको ने क्रोधी मनुष्य के रक्त को निकालकर उसे चूहा के शरीर मे प्रविष्ट करवाया तो उनमे विचित्र हरकत पैदा हो गई, यहा तक कि कई चूहो की तो उससे मृत्यु भी हो गई क्योकि क्रोध मे रक्त मे विषाणु फैल जाते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि माता यदि क्रोध के समय बच्चे को स्तनपान करवाए तो उससे कभी-कभी बच्चे की मृत्यु तक भी हो जाती है।

हमने राजस्थान मे एक घटना सुनी थी। एक गाव मे बहुत ही शान्त प्रकृति का व्यक्ति था। साधारणतया उसे कभी क्रोध नही आता था। पर एक दिन एक अध्यापक ने उसके लडके को पीट दिया। उसे जब इस बात का पता चला तो इतना गुस्सा आया कि उस आवेश मे वह उसी समय स्कूल की तरफ चल पडा। पर वह थोडी ही दूर गया था कि इतने मे उसे हृदय का दौरा पड गया और थोडे दिनो बाद उसकी मृत्यु भी हो गई।

कपट दूसरो को ठगना बहुत प्रिय होता है। बल्कि उस मनुष्य को होशियार माना जाता है जो चतुराई से दूसरो को ठग सके। पर इससे मानसिक तनाव बहुत बढ जाता है। क्योकि जब हम किसी को ठगते हैं तो इसका अर्थ होता है कि वस्तु के प्रति हमारे मन मे तीव्र आसक्ति है। आसक्ति जब घनीभूत हो जाती है तब मन मे तनाव पैदा होता है। प्रेम का ही उदाहरण लें। प्रेमी व्यक्ति की जिसमे आसक्ति हो जाती है, उसे हर क्षण वही-वही दीखता है, उसकी भूख और नीद भी हराम हो जाती है। इससे अनेक रोग पैदा हो जाते हैं।

डॉक्टरो ने अनुसधान करके पता लगाया कि सौ मे से साठ रोग तो केवल मानसिक होते हैं। दस या बीस प्रतिशत रोग शारीरिक होते हैं। कुछ रोग कीटाणुओ के कारण भी होते है। पर वे भी इसीलिए कि मनुष्य की रोगो से लडने की क्षमता क्षीण हो जाती है। हमारे शरीर मे लाल अणु जितने कम होते हैं, उतनी ही हमारी प्रतिरोध-शक्ति कम होती चली जाती है। यह सब मानसिक उलझन की ही देन है। इसलिए बाह्य रोग भी हमारे पर तभी प्रभाव डाल सकते हैं जबकि हमारे मन मे उलझन हो।

भौतिक दृष्टि से अमेरिका बहुत समृद्ध देश है। पर वहा बीमारियो की सख्या बहुत अधिक है। कहते हैं कि वहा पैंतालीस प्रतिशत व्यक्ति मानस-रोगी हैं। भौतिक दृष्टि से यद्यपि भारत काफी पिछडा देश है पर मानसिक रोगियो की सख्या यहा पन्द्रह प्रतिशत ही है। कारण इसका स्पष्ट है कि यहा मानसिक तनाव उतना नहीं है। शहरी सभ्यता के साथ-साथ मानसिक द्वन्द्व भी बढते हैं। गावो मे यह स्थिति कम रहती है। यद्यपि वहा

खान-पान, रहन-सहन अत्यन्त साधारण है, फिर भी ग्रामीण लोग शहरी लोगों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहते हैं क्योंकि उनके मानसिक तनाव अत्यन्त अल्प होते हैं।

मानसिक तनाव के और भी अनेक कारण हैं। पर उनके प्रतिकार का जो साधन है, वही साधना है। कायोत्सर्ग उसका प्रमुख साधन है। मन को सबल बनाए बिना मानसिक उलझन कभी नहीं मिट सकती। अतः मन को सबल बनाना स्नायविक तनाव से मुक्ति पाने का प्रथम सोपान है। इसे ही दूसरे शब्दों में ग्रन्थिमोक्ष कहा जा सकता है।

कायोत्सर्ग की तीन प्रक्रियाएं हैं—सोकर, बैठकर तथा खड़े होकर। पर तीनों में सोकर करने वाली प्रक्रिया सबसे सुगम है। इसमें पहले-पहल आंखें मूंदकर सीधा लेटना होता है। उसके बाद हाथों को ऊपर कर यथाशक्ति सांस भरकर सारे शरीर में खूब तनाव पैदा करना होता है। फिर सांस को धीरे-धीरे छोड़ते हुए सहज स्थिति में आना होता है। यह क्रम तीन बार होता है। इससे रक्त-संचार की बाधा समाप्त हो जाती है और कार्बन बाहर निकल आता है। तदनन्तर धीरे-धीरे सांस को बाहर निकालकर हाथ-पैरों को सुविधानुसार फैलाकर शरीर को शिथिल कर दिया जाता है। इस अवस्था में श्वास बिलकुल धीमा और सहज हो जाता है। यही पहली क्रिया है। उसके बाद मानसिक क्रिया प्रारम्भ होती है। आंखें मूंदकर दृष्टि को सबसे पहले सिर पर, फिर क्रमशः आंख, नाक, कण्ठ, हाथ, छाती, पेट, जांघ, उरु, पैर तथा अंगुलियों पर केन्द्रित करना होता है। प्रत्येक पर ध्यान केन्द्रित होते समय यह चिन्तन चलाते रहना है कि मेरा वह अवयव अवश्य शिथिल हो रहा है। पैर की अंगुलियां पर ध्यान केन्द्रित करते समय यह चिन्तन रहता है कि मेरा तनाव इस भाग में अंगुलियां से बाहर निकल रहा है। यह दूसरी क्रिया है।

इसके बाद मांसपेशियों को शिथिल करने का क्रम चलता है। नीचे से लेकर ऊपर तक दृष्टि को मांसपेशियों पर केन्द्रित कर उन्हें क्रमशः शिथिल होने की सूचना दी जाती है। यह तीसरी क्रिया है।

चौथी क्रिया ममत्व-विसर्जन की है। जब तक शरीर के प्रति जरा भी ममत्व रहता है, मन मे कोई उलझन रहती है, तब तक कायोत्सर्ग पूर्णत नही सध पाता। जब व्यक्ति अपने आपको भूल जाए तब उसे समझ लेना चाहिए कि उसका कायोत्सर्ग सध रहा है।

जैनेन्द्र—मनुष्य को जब तक 'मैं हू'—'अहम्-अस्मि' का अनुभव होता रहता है, तब तक वह लीन नही हो सकता। अत 'वह है' के चिन्तन मे ही अहम् से मुक्ति मिल सकती है। 'वह' अखण्ड तत्त्व का प्रतीक बनता है, 'मैं' खण्डित बोध का। इसीलिए जिस प्रक्रिया मे अह का विसजन होता है वही कायोत्सग है। कुछ भक्त भजन मे इतने लीन हो जाते है कि अपने आपको भूल जाते हैं। इस अवस्था मे वे जो कहे, वह इतना सवेदनपूण हो जाता है कि उसका प्रभाव अचूक होता है। विचार-सप्रेपण इसी तन्मयता की उपलब्धि है। जब 'मैं' 'वह' मे लीन हो जाता है तो उस एकाग्रता मे विचार अपने आप अतिक्रान्त होने लग जाते है। इसमे देश की दूरी भी व्यवधान नहीं बन सकती।

मुनिश्री—इसे लय योग कहा जाता है। योग के अनेक प्रकार हैं—जप योग, लय योग, ध्यान योग आदि। पर सब योगो की अन्तिम शर्त है आत्मा, इन्द्रिय तथा मन की एकलयता। शिष्य का अथ ही यही है कि वह गुरू मे अपने आपको लीन कर दे। यदि शिष्य गुरू मे लीन नही होता है तो उसे बौद्धिक उपलब्धि भले ही हो जाए पर उससे परे जो आत्मोपलब्धि है वह नही हो सकती। प्राचीन आचाय शिष्यो को पढाते बहुत थोडा थे और अपना काम ज्यादा करवाते थे। वस्तुत जो शिष्य गुरू मे लीन हो जाता, वह दिनभर गुरू की सेवा में तन्मय रहता था। जब कभी गुरू उसे थोडा-बहुत ज्ञान दे देते उससे उसकी आत्मा जागृत हो, जाती थी। आत्म-जागृति के सामने बौद्धिक उपलब्धि अत्यन्त तुच्छ वस्तु है। वास्तव मे जो दूसरों मे अपने आपको लीन नहीं कर देता है, वह सदा अपने आपमे उद्विग्न, चिन्तित रहता है।

इस सारे चिन्तन से हम एक ऐसे स्थल पर पहुचते हैं, जहा शरीर और

खान-पान, रहन-सहन अत्यन्त साधारण है, फिर भी ग्रामीण लोग शहरी लोगों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहते हैं क्योंकि उनके मानसिक तनाव अत्यन्त अल्प होते है।

मानसिक तनाव के और भी अनेक कारण है। पर उनके प्रतिकार का जो साधन है, वही साधना है। कायोत्सर्ग इसका प्रमुख साधन है। मन को सरल बनाए बिना मानसिक उलझन कभी नही मिट सकती। अत मन को सबल बनाना स्नायविक तनाव से मुक्ति पाने का प्रथम सोपान है। इसे ही दूसरे शब्दो मे ग्रन्थिमोक्ष कहा जा सकता है।

कायोत्सर्ग की तीन प्रक्रियाए हैं—सोकर, बैठकर तथा खडे होकर। पर तीनो मे सोकर करने वाली प्रक्रिया सबसे सुगम है। इसमे पहले-पहल आखें मूदकर सीधा लेटना होता है। उसके बाद हाथो को ऊपर कर यथाशक्ति सास भरकर सारे शरीर मे खूब तनाव पैदा करना होता है। फिर सास को धीरे-धीरे छोडते हुए सहज स्थिति मे आना होता है। यह क्रम तीन बार होता है। इससे रक्त-सचार की बाधा समाप्त हो जाती है और कार्बन बाहर निकल आता है। तदनन्तर धीरे-धीरे सास को बाहर निकालकर हाथ-पैरो को सुविधानुसार फैलाकर शरीर को शिथिल कर दिया जाता है। इस अवस्था मे सास बिलकुल धीमा और सहज हो जाता है। यही पहली क्रिया है। उसके बाद मानसिक क्रिया प्रारम्भ होती है। आखे मूदकर दृष्टि को सबसे पहले सिर पर, फिर क्रमश आख, नाक, कण्ठ, हाथ, छाती, पेट, जाघ, उरु, पैर तथा अगुलियो पर केन्द्रित करना होता है। प्रत्येक पर ध्यान केन्द्रित होते समय यह चिन्तन चलाते रहना है कि मेरा वह अवयव अवश्य शिथिल हो रहा है। पैर की अगुलियो पर ध्यान केन्द्रित करते समय यह चिन्तन रहता है कि मेरा तनाव इस भाग से अगुलियो से बाहर निकल रहा है। यह दूसरी क्रिया है।

इसके बाद मासपेशिया को शिथिल करने का क्रम चलता है। नीचे से लेकर ऊपर तक दृष्टि को मासपेशियो पर केन्द्रित कर उन्हे क्रमश शिथिल होने की सूचना दी जाती है। यह तीसरी क्रिया है।

चौथी क्रिया ममत्व-विसर्जन की है। जब तक शरीर के प्रति जरा भी ममत्व रहता है, मन मे कोई उलझन रहती है, तब तक कायोत्सर्ग पूर्णत नही सध पाता। जब व्यक्ति अपने आपको भूल जाए तब उसे समझ लेना चाहिए कि उसका कायोत्सर्ग सध रहा है।

जैनेन्द्र—मनुष्य को जब तक 'मैं हू'—'अहम्-अस्मि' का अनुभव होता रहता है, तब तक वह लीन नही हो सकता। अत 'वह हैं' के चिन्तन मे ही अहम् से मुक्ति मिल सकती है। 'वह' अखण्ड तत्त्व का प्रतीक बनता है, 'मैं' खण्डित बोध का। इसीलिए जिस प्रक्रिया मे अह का विसर्जन होता है वही कायोत्सर्ग है। कुछ भक्त भजन मे इतने लीन हो जाते हैं कि अपने आपको भूल जाते हैं। इस अवस्था मे वे जो कहे, वह इतना सवेदनपूर्ण हो जाता है कि उसका प्रभाव अचूक होता है। विचार-सप्रेषण इसी तन्मयता की उपलब्धि है। जब 'मैं' 'वह' मे लीन हो जाता है तो उस एकाग्रता मे विचार अपने आप अतिक्रान्त होने लग जाते हैं। इसमे देश की दूरी भी व्यवधान नही बन सकती।

मुनिश्री—इसे लय योग कहा जाता है। योग के अनेक प्रकार हैं—जप योग, लय योग, ध्यान योग आदि। पर सब योगो की अन्तिम शर्त है आत्मा, इन्द्रिय तथा मन की एकलयता। शिष्य का अथ ही यही है कि वह गुरू मे अपने आपको लीन कर दे। यदि शिष्य गुरु मे लीन नहीं होता है तो उसे बौद्धिक उपलब्धि भले ही हो जाए पर उससे परे जो आत्मोपलब्धि है वह नही हो सकती। प्राचीन आचार्य शिष्यो को पढाते बहुत थोडा थे और अपना काम ज्यादा करवाते थे। वस्तुत जो शिष्य गुरू मे लीन हो जाता, वह दिनभर गुरू की सेवा मे तन्मय रहता था। जब कभी गुरू उसे थोडा-बहुत ज्ञान दे देते उससे उसकी आत्मा जागृत हो, जाती थी। आत्म-जागृति के सामने बौद्धिक उपलब्धि अत्यन्त तुच्छ वस्तु है। वास्तव मे जो दूसरो मे अपने आपको लीन नहीं कर देता है, वह सदा अपने आपमे उद्विग्न, चिन्तित रहता है।

इस सारे चिन्तन से हम एक ऐसे स्थल पर पहुचते है, जहा शरीर और

आत्मा भिन्न नही रह पाते। मेरे विचार से आध्यात्मिक प्रक्रियाओ द्वारा शरीर को स्वस्थ करने की एक बहुत ही समर्थ विधि विकसित की जा सकती है। साधना-केन्द्र मे यदि इस आध्यात्मिक चिकित्सा का प्रयोग किया जा सके तो सचमुच यह एक सर्वथा नवीन पद्धति होगी। मानसिक चिकित्सा मे भी यह विधि अधिक सार्थक सिद्ध हो सकती है। प्राकृतिक चिकित्सा पर तो आज काफी बल आ ही रहा है, पर अमेरिका मे आज-कल कुछ ऐसे भी चिकित्सक हैं जो केवल श्वास-प्रक्रिया से रोगो को ठीक कर देते है।

६ ग्रन्थि-मोक्ष

हम ग्रन्थि से अपरिचित नही हैं। रस्सी मे, पेड मे, शरीर मे हमे गाठें देखने को मिलती हैं। जैसे बाह्य द्रव्यो मे गाठें घुलती हैं, वैसे मन मे भी घुलती हैं। बाह्य ग्रथियो की अपेक्षा मानसिक ग्रन्थिया अधिक जटिल होती हैं। मानसिक ग्रन्थियो के कारण है

१ मिथ्यादशन,

२ मानसिक आकाक्षा,

३ कुटिलता।

मिथ्यादशन यह ग्रन्थिपात का प्रमुख कारण है। हमारी मान्यताए जितनी विपयस्त होती हैं उतनी ही मानसिक ग्रन्थिया पडती हैं। उनसे हम यथाथ को छोड अयथाथ को स्वीकार कर लेते हैं। कही हम सदिग्ध हो जाते हैं और कही विपयस्त। एक के प्रति सन्देह होने से उसके प्रति अनायास विरोध के भाव जगते हैं और उसे हम शत्रु मान बैठते हैं। सम्राट् श्रेणिक की रानी चिल्लणा सो रही थी। हाथ बाहर रह गया था। सर्दी से रानी का हाथ ठिठुर गया। जब वह जगी तो उसके मुह से निकला, 'वह क्या करता होगा।' राजा ने इस वाक्य को सुना। उसने निणय किया,

रानी का आचरण अच्छा नही है, यह किसी से प्रभावित है। प्रातःकाल होते ही राजा ने अभयकुमार को आदेश दिया कि 'महल जला डालो।' महल को जलाने के पीछे राजा का सन्देह था। रानी के मुह से अनायास ही मुनि की स्थिति फूट पडी, जो खुले मे ध्यान कर रहा था और जिसे कल ही रानी ने देखा था।

ऐसा कौन है, जो सन्देह के कारण ऐसा नही करता। स्थल मे चाकचिक्य के कारण जल की कल्पना कर मृग दौडता है, वैसे हम विपयस्त दृष्टिकोण मे चलते हैं। अशाश्वत को शाश्वत, आत्म को अनात्म और दुःख को सुख मान लेते हैं। आज का धनी-वर्ग और शासक-वर्ग इसी आधार पर चल रहा है। क्या सत्ता का जो प्रयोग हो रहा है, वह वाछनीय है ? क्या इतना धन सग्रह करना वाछनीय है ? यह सब विपरीत दृष्टिकोण के कारण हो रहा है।

मानसिक आकांक्षा हरेक को जीवन की प्राथमिक आवश्यकता पूरी करनी होती है पर आकाक्षा उससे आगे चलती है। दूध पीने पर रसानुभूति होती है। जब वह आकाक्षा मे बदल जाती है, तब वह अनुबन्ध बन जाती है। एक दिन दूध पीने से वासना नही होती। जो प्रतिदिन दूध पीता है, वह यदि एक दिन नही पीता तो उसे कमी का अनुभव होता है। वह कोरी आवश्यकता ही नही है, उससे अतिरिक्त भी है, वह है—आकाक्षा। प्रतिदिन का अभ्यास इतना पुष्ट बन जाता है कि आवश्यकता आकाक्षा का रूप ले लेती है।

कोई भी शरीरधारी अपेक्षा से मुक्त नही है पर उसमे तरतमता होती है। जल की लकीर, बालू की लकीर, मिट्टी की लकीर और पत्थर की लकीर मे जैसे तरतमता है वैसे ही अपेक्षा मे तरतमता होती है। जो अपेक्षा जल की लकीर की तरह होती है, वह आवश्यकता-भर है। जो बालू की लकीर के समान है, वह थोडी-सी अतृप्ति है। जो मिट्टी की लकीर के समान है, उसमे आकाक्षा की मात्रा बढ जाती है। जो पत्थर की लकीर के समान है, उसमे आवश्यकता गौण हो जाती है और वह आकाक्षा अनन्ता-

नुवधी बन जाती है। अतृप्ति को तृप्त करने के प्रयत्न मे तृप्ति नही होती परतु अतृप्ति बढ जाती है एक के बाद दूसरी अतृप्ति उभर आती है। तर्कशास्त्र म इसे अनवस्था कहा जाना है। एक कपडे को साफ रखने के लिए उस पर खोली चढाते है। उसे साफ रखने के लिए उस पर दूसरी, दूसरी को साफ रखने के लिए तीसरी, चौथी और पाचवी—इस प्रकार क्रम बढता ही जाता है। अतृप्ति का कही अन्त नही आता। अनवस्था का भी यही स्वरूप है।

कुटिलता : कुटिलता ग्रन्थिपात का पहला चरण है। माया अर्थात् ग्रन्थिपात, आजव यानी ग्रन्थि-मोक्ष। ऋजु व्यवहार के पहले-पीछे और वर्तमान मे मानसिक जटिलता नही होती, इसलिए उसमे ग्रन्थिपात का अवसर नही आता। कुटिल व्यवहार म पहले, पीछे और वर्तमान मे मानसिक जटिलता होती है इसलिए उस स्थिति मे ग्रन्थिया पडती है। ग्रन्थि-मोक्ष की तीन पद्धतिया है—(क) आत्मविश्लेपण की पद्धति, (ख) निर्देशन की पद्धति, (ग) निरसन की पद्धति।

आत्म-विश्लेपण की पद्धति मनोवैज्ञानिक है। आत्म-विश्लेपण प्राच्य भाषा मे प्रायश्चित्त है। जो अकृत हो जाता है, उसमे मन मे द्वन्द्व होता है, उसमे मन मे ग्रथि घुलती है। आत्म-विश्लेपण या प्रायश्चित्त से वह खुलती है।

निर्देशन—इसका अर्थ है, स्वत सूचना। यह भारतीय योग की प्रक्रिया है। इसमे मानसिक स्वभाव मे परिवतन आता है। स्वत सूचना से मानसिक ग्रन्थि टूट जाती है। पूरक (श्वास का भीतर लेते समय) काल मे निष्ठा के साथ निर्देश देने मे बहुत बडा लाभ होता है। सोते समय निर्देश देना भी शीघ्र फलदायी होता है। इस विधि से दिए गए निर्देश तीन मिनट मे रक्त के साथ सारे शरीर मे व्याप्त हो जाते है। श्वास को लम्बाना आवश्यक है। निर्देश मे दुरभिसन्धि भी मिट जाती है।

निरसन—यह निर्जरण की प्रक्रिया है। निर्देशन ग्रन्थि का खोलता है और निरसन तोडता है। निरसन मे चैतन्य इतना प्रबल हो जाता है कि मानसिक चचलता टिक नही सकती, ग्रन्थि टूट जाती है। उसमे सत्य के प्रति आग्रह होता है। बुद्ध ने इसी आग्रह की भाषा म कहा था—

इहासने शुष्यतु मे शरीर, त्वगस्थिमाम प्रलय च यातु।
अप्राप्य बोधि बहुकालदुर्लभा, नैवासनात्कायमिद चलिष्यति ॥

सत्य के प्रति आग्रह होने पर ग्रन्थि-छेद हुए विना नही रहता। जितने महापुरुष हुए हैं, उन सवने सत्य के प्रति आग्रह का व्रत लिया था। आग्रह इतना दृढ किया कि काय सिद्धि या शरीर का पात। ऐसे दृढ आग्रह से ग्रथि-छेद सरलता से हो सकता है। निरसन की पद्धति ही तपस्या की पद्धति है। यह पद्धति निषेध, अस्वीकार या आत्मोन्मुक्ता की पद्धति है, इससे आत्म-विमुखता मिट जाती है। आत्म-विश्लेपण ग्रन्थि को सुलझाता है, निर्दशन ग्रन्थि को खोलता है और निरसन ग्रन्थि को तोडता है।

ग्रन्थि मोक्ष का परिणाम सरलता—जीवन की सहजता है। वक्रता और सरलता जीवन के दो पक्ष हैं। जितना टेढापन है, वह जीवन मे समस्याए उभारता है। वास्तविक समस्याए हमारे जीवन मे वहुत नही हैं, उनका ताना-वाना मनुष्य स्वय वुनता है। कुछ लोग सोचते हैं, ऐसा युग आ गया, ऐसा शासन आ गया जो समस्याए बढ रही हैं। समस्याए वाह्य वृत्त मे हो सकती हैं पर उनसे आपको कष्ट नही होता। आपको कष्ट तभी होता है, जब आप उनको अपने मन मे सजोते हैं। मन का दरवाजा टूटा हुआ होता है, हर कोई भीतर घुस सकता है। यदि वह मजबूत हो तो वाहर का कोई असर नही होता। खिडकी वन्द करने से वाहर की शीत-लहर भीतर प्रवेश नही कर पाती, क्योकि निरोध मजबूत है। यही स्थिति परि-स्थिति की है। यदि मानसिक चचलता होती है तो वह वाहर की परिस्थिति को तत्काल पकड लेती है। एक व्यक्ति प्रतिकूल वात सुनकर टाल देता है। दूसरा उसे बुरा मानकर कुछ करता है और तीसरा उसे अन्याय मान तत्काल प्रतिकार की वात सोचता है। उसके लिए भयकर घटना वन जाती है। घटना समान होनेपर भी अनुभूति की भिन्नता है। जिसका मन जितना तरल है, वह उतना ही वाह्य परिस्थिति से प्रभावित होगा। मन की शान्ति नितान्त घटना से नही, मानसिक चचलता से भग होती है। मानसिक शान्ति के लिए घटना और घटनाजनित परिणाम का विश्लेपण होना

आवश्यक है।

जैनेन्द्र—शान्ति श्मशान की शान्ति नही होनी चाहिए। जड शान्ति मे चैतन्य कुण्ठित हो जाता है।

मुनिश्री—मैं परिस्थिति से आख-मिचौनी करने वाली कृत्रिम शान्ति की बात नही कर रहा हू। अन्याय के प्रतिकार को मैं शान्ति-भग नही कह रहा हू। मैं उस शान्ति की बात कर रहा हू, जिसमे प्रतिकार की शक्ति सुरक्षित है, जिसे प्रतिगामी चुनौती नही दे सकता, प्रतिकार की क्षमता मे विचलित कर स्वय को आकुल नही बना सकता। मन की स्थिति सुदृढ होने पर वह अग्राह्य को छोड देता है, जैसे चलनी आटा छानती है, उसमे अग्राह्य अश शेष रह जाता है। कुटिलता व्यक्त होने पर ऋजुता शेष रहती है। ग्रन्थि-मोक्ष अपने आप हो जाता है।

७ सकल्प-शक्ति का विकास

हमारे शरीर मे दो केन्द्र हैं—ज्ञान-केन्द्र और क्रिया-केन्द्र। दो नाडी-क्रम हैं—ज्ञानवाही नाडी-क्रम और क्रियावाही नाडी-क्रम। ज्ञानवाही नाडियो का सम्बन्ध ज्ञान-केन्द्र से है और क्रियावाही नाडियो का सम्बन्ध क्रिया-केन्द्र से। मनोविज्ञान के अनुसार मानस की प्रवृत्तियो के तीन पक्ष हैं—ज्ञानपक्ष, वेदनापक्ष और क्रियापक्ष। ज्ञान और क्रिया मे कोई दूरी नही होती, यदि मनुष्य वेदनाशील नही होता। पेट ठीक न होने से विवेक कहता है, आज दूध नही मट्ठा लेना चाहिए। यह विवेककृत मोड या परिवतन है। विवेक की अपेक्षा आस्था का स्थान पहला है। सकल्प का काय है—ज्ञान को आस्था मे बदलना।

सकल्प, जप और भावना—ये तीन शब्द हैं। पतजलि ने जप शब्द का प्रयोग किया। जैन-साहित्य मे भावना शब्द है और आधुनिक साहित्य मे सकल्प शब्द अधिक व्यवहृत है। तीनो शब्दो के तात्पय मे कोई अन्तर

नही है। जप का अर्थ है—तदर्थभावित होना, जप्य से इतना भावित हो जाना कि जप्य और जापक मे भेद ही प्रतीत न हो। आयुर्वेद म लवण भास्कर को नीबू से भावित किया जाता है। आमलकी रसायन स्वरस भावित होता है, आवलो के रस मे आवलो की घुटाई होती है। द्रव्य मे अन्तर नही होने पर भावना से गुणा म अन्तर आ जाता है। जिन द्रव्यो को जिससे भावित किया जाता है, उसकी ही प्रधानता हो जाती है। पाच पुटी अभ्रक और एक हजार पुटी अभ्रक के गुणो मे बहुत बडा अन्तर हो जाता है। कई सकल्प करते हैं पर घुटाई नही करते। दो-चार बार सकल्प दोहराने से उतना फल नही मिलता जितना चाहते हैं। घुटाई करने मे समय लगता है। जितना समय लगेगा, उतनी ही वस्तु भावित होगी। जिससे भावित करेंगे, उसमे उसके ही गुण प्रधान रहेंगे। नीबू की भावना मे नीबू का और अनार के रस की भावना मे अनार का गुण प्रमुख रूप से रहेगा। यही हमारे मन की प्रक्रिया है। मन को भी जिस भावना मे भावित किया जाएगा, उसमे वैसा ही स्थायी भाव बन जाएगा। आस्था भिन्न-भिन्न होने का यही कारण है। आस्था के निर्माण मे सकल्प का योग महत्त्वपूर्ण है।

मत्र-शास्त्र की प्रक्रिया मे सकल्प-शक्ति का बहुत बडा योग है। सकल्प के लिए सात शुद्धियो की अपेक्षा है

१ द्रव्यशुद्धि—व्यक्ति का अतरग क्रोध, दभ, ईर्ष्या से मुक्त, ऋजु और सरल होना चाहिए।

२ क्षेत्रशुद्धि—स्थान शान्त और पवित्र होना चाहिए।

३ समयशुद्धि—तीन सध्या—प्रात , मध्याह्न, साय।

४ आसनशुद्धि—ध्यानासनो मे, कबल, काष्ठपट्ट या जमीन पर।

५ विनयशुद्धि—उच्चारण मे उपयुक्त स्थल पर विराम।

६ मन शुद्धि।

७ वचनशुद्धि।

सकल्प के तीन प्रकार हैं—वाचिक, उपाशु और मानसिक।

वाचिक—जो उच्चारणपूर्वक किया जाता है।

उपांशु—बाहर भाषा नहीं, किन्तु होठों के भीतर शब्द होते हैं।

मानसिक—होठों के भीतर भी उच्चारण नहीं, केवल मानसिक चिन्तन।

जप उनका करना चाहिए जो हमारे आदर्श है। इससे आस्था का निर्माण होता है। वीतराग (पवित्र आत्मा) के जप से मन उसी भावना से रग जाता है। हर शब्द की शरीर पर क्रिया होती है। भिन्न-भिन्न शब्द का भिन्न-भिन्न रोगो पर असर पडता है। इसी आधार पर शब्द-चिकित्सा चली। शब्द वायुमण्डल में प्रकम्पन पैदा करता है और स्फोट भी करता है। वह अणु-स्फोट से कम प्रभावी नही है।

सकल्प विधायक होना चाहिए। 'मैं क्रोध नही करूगा', इसके स्थान पर 'मेरा प्रेम बढ रहा है'—ऐसा सकल्प होना चाहिए। ऋणात्मक की अपेक्षा धनात्मक अधिक फल लाता है। सकल्प की विधेयात्मकता मे नकारात्मकता स्वय लीन हो जाती है।

भगवती सूत्र का एक प्रसग है। भगवान् महावीर से पूछा गया—'भगवन्! अग्निपक्व अन्न वनस्पतिकाय है या तैजस्काय?' उत्तर मिला—'तैजस्काय।' वह तेजस् से भावित हो गया, इसलिए जो अन्न वनस्पति था वह तैजस् हो गया। यह तादात्म्य है। इसमे पूर्वावस्था उत्तरावस्था मे विलीन हो जाती है।

सकल्प लम्बे समय तक किया जाय, यह उसकी सफलता का रहस्य है। लीनता या तादात्म्य-स्थापना के लिए अल्प-काल पर्याप्त नही होता। मैं पवित्र हू, इस सकल्प को कम-से-कम पचास मिनट तक किया जाय और इतनी तन्मयता से किया जाय कि उसमे ध्याता और ध्येय का भेद ही न रहे। ऐसी तन्मयता ही फल लाती है। इसे जैनाचार्य 'समरसीभाव' और पतजलि 'समापत्ति' कहते है। सकल्प का हृदय शब्दोच्चारण मे नही है, किन्तु सकल्प और सकल्पकार की एकात्मकता मे है।

जैनेन्द्र—प्रात कालीन प्रार्थना के समय जो सकल्प करा रहे है, उसमे मुझे खतरा दिखाई देता है।

मुनिश्री—खतरा क्या है ?

जैनेन्द्र—मैं ऐसा मानता हूं कि अहं से मुक्त हुए बिना बंधन नहीं कटता।

मुनिश्री—अहं को आप बंधन ही क्यों मानते हैं ? वह अस्तित्व भी ता है।

जैनेन्द्र—मैं अस्मितासूचक अहं की बात कह रहा हूं। मुझे 'मैं आत्मा हूं' इसकी अपेक्षा 'आत्मा हूं' की भाषा अधिक प्रिय है।

मुनिश्री—'मैं आत्मा हूं' इस संकल्प में अस्तिता प्रधान है, अस्मिता नहीं।

अहं या आत्मा में तन्मयता प्राप्त करने पर व्यक्ति शरीर से विच्छिन्न हो आत्ममय बन जाता है।

८ मानसिक एकाग्रता

व्यक्तिगत साधना के आठ सूत्रों में मानसिक एकाग्रता या ध्यान को आठवां सूत्र क्यों चुना ? यह तो पहला होना चाहिए था। यह प्रश्न पैदा होता है और बहुत स्वाभाविक। किन्तु इसके प्रति मेरा दृष्टिकोण यह है—पिछले सात सूत्र प्रारम्भिक हैं, ध्यान की भूमिका के रूप में हैं। यदि वे सध जाते हैं तो ध्यान की साधना सहज हो जाती है। प्रारम्भ में मन की चंचलता का निरोध कठिन होता है।

एकाग्रता होने में तीन बाधाएं हैं—स्मृति, कल्पना और वर्तमान की घटना।

स्मृति अतीत की घटनाएं जो घट चुकी हैं, वे निमित्त पाकर उभर आती हैं। बीस वर्ष पहले किसी गांव में गए थे। उस क्षेत्र को देखते ही वहां की स्मृतियां ताजी बन जाती हैं, यह दैशिक स्मृति है। ग्रीष्म-ऋतु आते ही पहले ग्रीष्म की घटनाएं उभर आती हैं, यह कालिक स्मृति है।

बाह्य वृत्त और व्यक्ति का सधान होते ही स्मृति जाग उठती है और उसमे मन उलझ जाता है।

कल्पना स्मृति अतीत की बाधा है तो कल्पना भविष्य की बाधा है। क्या करना है, क्या लिखना है, कहा से रुपये लाना है आदि अनेक कल्पनाए मन सजोता रहता है। कल्पना वर्तमान मे सत्य नही होती। अतीत की स्मृति मन को आन्दोलित करती है, वैसे ही भविष्य की कल्पना भी मन को आन्दोलित करती है।

वर्तमान की घटना वर्तमान की घटना भी मन को आन्दोलित करती है। मन तत्काल बाह्य वस्तुओ से सम्बन्ध स्थापित कर आन्दोलित हो जाता है। हम चाहते हैं, हमारा मन आन्दोलित न हो या उतना न हो जितना होता है तो उसके लिए तीनो बाधाओ से मुक्ति पाना अपेक्षित है। उसका मार्ग ध्यान है। तीनो से विच्छिन्नता प्राप्त कर चैतन्य सूत्र को चैतन्य से जोड देना यही बस ध्यान है। ध्यान की पुरानी परिभाषा है

'ज्ञानान्तराऽस्पर्शवती ज्ञानसन्तति ध्यानम्'

चैतन्य का वह प्रवाह ध्यान है जो ज्ञानान्तर का स्पर्श न करे। इसम निरन्तर स्व-द्रव्य का स्पर्श और पर-द्रव्य का अस्पर्श होता है, इसलिए इसे ज्ञान सन्तति कहा जा सकता है।

अपने मे लीन होना ध्यान है। आत्मा 'स्व' है और शेष सब 'पर' है। 'पर' से निवृत्त हो शुद्ध आत्मा का चिन्तन लेकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना आत्मज्ञान है और पहले क्षण का ज्ञान है, वही दूसरे-तीसरे क्षण मे होता है, क्रम-भग नही होता, यही सतति है। जैसे दीपशिखा है, प्रथम क्षण की लौ चली गई, दूसरी और तीसरी आयी, वह भी चली गई। ऐसा उसमे वर्तमान का अतीत के साथ सम्बन्ध होता है। दीपशिखा की भाति चिन्तन-प्रवाह का वैसा का वैसा होना ही एकाग्रता है।

ध्यान का मुख्य विषय परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है, जो चेतना

वहिर्मुखी थी, उसे हटा आत्मा मे लीन करना है।

जैनेन्द्र—ध्याता और ध्येय—यह द्वैत न हो वहा एकत्व कैसे सम्भव है? आत्मा आत्मा मे लीन—यह कैसी स्थिति है?

मुनिश्री—आत्मा का आत्मा मे लीन होना यह स्थिति का द्वैत है। जिसमे लीन होना है, वह शुद्ध अवस्था है। जिसे लीन होना है, वह वहिर्मुखी अवस्था है।

जैनेन्द्र—मुझे ध्यान खतरनाक लगता है। उसे स्व-रति के खतरे से वचना है। थोडा ध्यान जिसमे स्वास्थ्य-लाभ हो, जिसका सेवा मे उपयोग हो, जिसे आत्म-रमण कहते है, वह ठीक है पर आत्म-रमण और स्व-रति मे भेद है। आत्म-रमण वडा शब्द है। स्व-रति मनोविज्ञान मे भी चलता है, वह सकुचित है। भक्त और भगवान् दो हैं। भक्त अपनी ही भक्ति मे स्व का द्वैत उत्पन्न करे, फिर एकीकरण करे।

मुनिश्री—द्वैत और एकीकरण, यह दोनो प्रक्रियाओ मे समान है। एक जगह भगवान् और भक्त का एकीकरण है तो दूसरी जगह आत्मा की दो भिन्न स्थितियो का एकीकरण है। सहारे की अपेक्षा हो तो वह उसमे भी है और इसमे भी।

जैनेन्द्र—जो स्व मे ही निष्ठ हो गया, होते-होते निकम्मा ही नही, विक्षिप्त हो गया। परिस्थिति से सम्बद्ध रह नही सका।

मुनिश्री—यह परिस्थिति की तुलना मे स्व-निष्ठा की बात नही है। स्व-निष्ठा का अर्थ चैतन्य है प्रवुद्धता है और वह प्रवुद्धता जिसमे चैतन्य ही चैतन्य हो। साधनाकाल मे ध्याता और ध्येय का विभाग रहता है, सिद्धि-काल मे वे दोनो एक हो जाते हैं।

जैनेन्द्र—चैतन्य का स्वभाव सिमटकर सीमित होना नहीं है। चेतना वाहर से लौटकर भीतर की ओर नही आती, वह वाहर की ओर फैलकर विराट वन जाती है।

मुनिश्री—चैतन्य का भीतर की ओर लौटने का अर्थ सिमटना नही किन्तु विस्तार ही है। आप क्षेत्रीय विस्तार की भाषा मे कह रहे हैं, मैं

शक्ति-विस्तार की भाषा मे कह रहा हू। क्षेत्रीय दृष्टि से तो आकार भी विराट् है। चैतन्य की विराटता उससे विलक्षण है।

जैनेन्द्र—आप कहते हैं, कल्पना को समाप्त कर दो। मैं कहता हू कल्पना को मुक्त कर दो।

मुनिश्री—साधना के कुछ स्तरो मे आपकी भाषा मान्य हो सकती है। साधना का स्तर सबका एक नही होता।

जैनेन्द्र—कल्पना को छोडने मे लगे हुए अधिक बिखर गए ह, यह मैंने देखा है।

मुनिश्री—उनका आत्मा के साथ ठीक योग नही हुआ है।

जैनेन्द्र—योग शब्द ठीक है। पहले आपने विच्छिन्न कहा। यदि योग है तो यह मैं भी मानता हू।

मुनिश्री—मैंने तो पहले ही कहा था, स्व-द्रव्य के साथ योग और पर-द्रव्य के साथ अयोग। कोरा अयोग या विच्छेद नही कहा था।

मोहनलालजी (जैनेन्द्रजी से)—छोडते जाओ, छोडते जाओ, यह तो समझ मे आता है पर विस्तार करते जाओ यह भाषा समझने मे कठिनाई है। इसका व्यावहारिक रूप क्या है?

जैनेन्द्र—आचार्य तुलसी के प्रति आपकी श्रद्धा है। तुलसीजी मे आपका लीन होना सरल है। जैनेन्द्र जैनेन्द्र मे लीन हो जाए, यह कठिन लगता है। अपने से दूसरे मे लीन होना विस्तार है और वह सरल भी है।

मुनिश्री—स्वलीन या परलीन यह भाषा-भेद है। भाषा कोई सत्य नही है। सत्य जहा पहुचना है, वहा पहुचना है।

जैनेन्द्र—आत्मा के नाम पर अह की साधना होने से धर्म अधर्म बन जाता है।

मुनिश्री—अह शब्द एक है पर इसके दो रूप हैं। अ, अस्मित्व का सूचक हो तो वह अधर्म हो सकता है पर अस्तित्व का सूचक हो तो, वह अधर्म कैसे होगा?

विषय-विच्छेद की प्रक्रिया

ध्येय के साथ तादात्म्य स्थापित करने की प्रक्रिया प्रत्याहार है। उनके लिए एक मुद्रा है—सर्वेन्द्रियोपरम। इससे मानसिक शान्ति मिलती है। दो-चार मिनट इस मुद्रा मे रहने से घट-भर का श्रम मिट जाता है। कितना ही मन विखरा हो, इस मुद्रा से केन्द्रित हो जाता है।

रस-विच्छेद की प्रक्रिया

ध्यान के चार प्रकार हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत। एका-ग्रता में एक आलम्बन लेना होता है, चाहे वह परमात्मा का हो, आत्मा का हो या किसी वाह्य वस्तु का हो। पिण्डस्थ मे अपने शरीर का आलम्बन ले अभ्यास किया जाता है। शरीर मे नासाग्र आदि सोलह स्थानो पर मन का योग करने से शान्ति मिलती है।

जैनेन्द्र—ध्यान मे प्रवृत्ति-शून्यता या अह की वृद्धि का खतरा है।

मुनिश्री—ध्यान मे सहज आनन्द की अनुभूति होती है। मैं अपने मे देखता हू। ध्यान के लिए कुछ समय लगाता हू, फिर भी मेरी प्रवृत्ति कम नही हुई है और न मुझे अह सताता है, प्रत्युत आनन्द का अनुभव कर रहा हू। इसलिए मुझे लगता है कि ध्यान कोई खतरा नही है। जहा आनन्द नही मिलता, वहा ध्यान की प्रक्रिया मे गलती हो सकती है।

जैनेन्द्र—मेरे जीवन मे कम-से-कम एक दजन व्यक्ति आए। दो-दो घटे ध्यान करते थे, फिर भी उनका मन विखर रहा है।

मुनिश्री—प्रक्रिया मे कही गलती हो सकती है अन्यथा ध्यान से आनद ही मिलता है, मन विखरता नही।

राजसमन्द मे रजनीशजी आए। ध्यान के विषय मे वात चली। उन्होंने निरालम्व की वात पर वल दिया। मैंने कहा—यह आगे की भूमिका है। प्रारम्भ मे आलम्वन के विना कठिनता आती है। नाभि का आलम्वन मन को एकाग्र करने मे वहुत सहायक वनता है। जहा से श्वास स्पन्दन होता है उस पर नियत्रण होता है। उससे एकलयता आती है। मन की स्थिरता आती है। भृकुटी, नासाग्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, उपस्थ, पादागुष्ठ—

ये चेतना के केन्द्र-स्थान है। मन को इन शरीर-केन्द्रों मे केन्द्रित करना पिण्डस्थ ध्यान है। पदस्थ ध्यान मे शब्दो का आलम्बन लिया जाता है। जो शब्द इष्ट हैं—परमात्मा या कोई, उसका आलम्बन लिया जाए। रूपस्थ-ध्यान मे अपने से भिन्न किसी मूर्त-वस्तु के साथ सम्बन्ध कर ध्यान करना होता है। मूर्ति का विकास इसी रूपस्थ ध्यान के सहारे हुआ है। एकलव्य को शस्त्र-कला मे पारगत होना था। उसके लिए सबसे सुन्दर आलम्बन द्रोणाचार्य थे। उनकी मूर्ति को आलम्बन बना वह उस कार्य मे लीन हो गया।

रूपातीत ध्यान परम आत्मा का ध्यान है। इससे रस-निवृत्ति हो जाती है। यह रस-विच्छेद की प्रक्रिया है। गीता मे बताया है

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिन ।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य, पर दृष्ट्वा निवर्तते ।।

विषय और रस दो है। विषय बाहर है, रस भीतर है। जैन-भाषा मे रस का अर्थ विकार है। विषय २३ है और विकार २४४ हैं। आखें मूद लेने से विषय नही मिलता पर रस नही मिटता। यह तभी मिटता है, जब 'पर' का दर्शन हो जाता है। पर यानी परमात्मा। वह रस-वर्ज है, निर्विकार है, लक्ष्य है, जो आप होना चाहते हैं, वह है। उस 'पर' के दर्शन से रस निवृत्त हो जाता है। ध्यान मे विषय की निवृत्ति और रस की निवृत्ति दोनो हो जाती हैं।

जैनेन्द्र—क्या मुक्ति अभावात्मक स्थिति है ?

मुनिश्री—नही, भावात्मक है। वहा ससीम सुख की निवृत्ति होती है तो असीम सुख की उपलब्धि होती है। परमात्मा का आनन्द अनन्त है, अचल है, अक्षर है। यहा के सुख क्षणशील है। मनुष्य इतना मूर्ख नही कि सत्ता को छोड शून्यता मे जाए। वैशेषिक की अभावात्मक मुक्ति का उपहास करते हुए किसी नैयायिक आचार्य ने लिखा है

वर वृन्दावने रम्ये, शृगालत्वमभिवाछितम ।
न तु वैशेषिकी मुक्ति, गौतमो गन्तु मिच्छति ।।

वृन्दावन मे सियाल होना मान्य है पर वैशेपिक की मुक्ति मे जाना गौतम को मान्य नही है। मुक्ति भावाभावात्मक स्थिति है—

अतएवान्यशून्योपि, नात्मा शून्य स्वरूपत ।
शून्याशून्यस्वभावोयमात्मनैवोपलभ्यते ॥

हम अनन्त ज्ञान चाहते हैं, अनन्त आनन्द चाहते हैं, अनन्त पवित्रता और अनन्त शक्ति चाहते हैं। जहा ये नही, वहा धम नही है। हमारे ये चार लक्ष्य हैं। उपलब्धि चाहे कम हो, लक्ष्य यही है। यह चेतना की विकसित अवस्था है, अभावात्मक अवस्था नही है। जिसे हम नही चाहते, वह सान्त अवस्था है। उसकी सत्ता वहा समाप्त हो जाती है, इसलिए वह भावाभावात्मक है।

जैनेन्द्र—कुछ सर्वोदयी नेता जे० के० कृष्णमूर्ति की ओर झुक रहे हैं। एक दिन दादा धर्माधिकारी मुझे भी उनके पास ले गए। बात सुनने मे वे बेहद ठीक हैं। वे निश्चय की भाषा मे बोलते हैं। कहने से आगे उतरती नही। कहते हैं—समय की सत्ता नही पर सात रोज का कार्यक्रम आगे का बधा रहता है।

मुनि सुख—तीर्थकर और केवली की वीतरागता समान है। तीर्थकर तीर्थ की रचना करने मे प्रवृत्त होते हैं और केवली नही। तो क्या वीतरागता की परिपूणता रचना मे है ?

मुनिश्री—रचना सवेदन मे से प्राप्त होती है पर उसका आकार अपने सामर्थ्य और भूमिका के अनुसार होता है। शरीर का व्यवहार और प्रवृत्ति दोनो के लिए अनिवाय है। यह अनिवायता तब तक चलेगी, जब तक शरीर का अस्तित्व रहता है।

मुनि सुख—पिण्डस्थ, पदस्थ आदि मे क्रमबद्धता है या नही ?

मुनिश्री—क्रमबद्धता के विषय मे कभी सोचा नही, पर चाहे तो उसे ढूढ सकते हैं।

इसी बीच उमरावचन्दजी मेहता बोल उठे—शरीर, वाणी और मन की स्थिरता द्वारा आत्मा तक पहुचना है। रूपातीत आत्मा है। पहले तीनो

ये चेतना के केन्द्र-स्थान हैं। मन को इन शरीर-केन्द्रों में केन्द्रित करना पिण्डस्थ ध्यान है। पदस्थ ध्यान में शब्दों का आलम्बन लिया जाता है। जो शब्द इष्ट हैं—परमात्मा या कोई, उसका आलम्बन लिया जाए। रूपस्थ-ध्यान में अपने से भिन्न किसी मूर्त-वस्तु के साथ सम्बन्ध कर ध्यान करना होता है। मूर्ति का विकास इसी रूपस्थ ध्यान के सहारे हुआ है। एकलव्य को शस्त्र-कला में पारगत होना था। उसके लिए सबसे सुन्दर आलम्बन द्रोणाचार्य थे। उनकी मूर्ति को आलम्बन बना वह उस कार्य में लीन हो गया।

रूपातीत ध्यान परम आत्मा का ध्यान है। इसमें रस-निवृत्ति हो जाती है। यह रस-विच्छेद की प्रक्रिया है। गीता में बताया है

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

विषय और रस दो हैं। विषय बाहर है, रस भीतर है। जैन-भाषा में रस का अर्थ विकार है। विषय २३ हैं और विकार २४० हैं। आंखें मूंद लेने से विषय नहीं मिलता पर रस नहीं मिटता। यह तभी मिटता है, जब 'पर' का दर्शन हो जाता है। पर यानी परमात्मा। वह रस-वर्ज है, निर्विकार है, लक्ष्य है, जो आप होना चाहते हैं, वह है। उस 'पर' के दर्शन से रस निवृत्त हो जाता है। ध्यान में विषय की निवृत्ति और रस की निवृत्ति दोनों हो जाती हैं।

जैनेन्द्र—क्या मुक्ति अभावात्मक स्थिति है?

मुनिश्री—नहीं, भावात्मक है। वहां ससीम सुख की निवृत्ति होती है तो असीम सुख की उपलब्धि होती है। परमात्मा का आनन्द अनन्त है, अचल है, अक्षर है। यहां के सुख क्षणशील हैं। मनुष्य इतना सुख नहीं कि मनना को छोड़ शून्यता में जाए। वैशेषिक की अभावात्मक मुक्ति का उपहास करते हुए किसी नैयायिक आचार्य ने लिखा है

वरं वृन्दावने रम्ये, शृगालत्वमभिवाञ्छितम्।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, गौतमो गन्तुमिच्छति॥

वृन्दावन मे सियाल होना मान्य है पर वैशेपिक की मुक्ति मे जाना गौतम को मान्य नही है। मुक्ति भावाभावात्मक स्थिति है—

अतएवान्यशून्योपि, नात्मा शून्य स्वरूपत ।
शून्याशून्यस्वभावोयमात्मनैवोपलभ्यते ॥

हम अनन्त ज्ञान चाहते हैं, अनन्त आनन्द चाहते हैं, अनन्त पवित्रता और अनन्त शक्ति चाहते हैं। जहा य नही, वहा धम नही है। हमा य चार लक्ष्य ह। उपलब्धि चाहे कम हो, लक्ष्य यही है। यह चेतना की विक-सित अवस्था है, अभावात्मक अवस्था नही है। जिसे हम नही चाहते, वह सान्त अवस्था है। उसकी सत्ता वहा समाप्त हो जाती है, इसलिए वह भावाभावात्मक है।

शरीर, वाणी और मन की स्थिरता के निमित्त है।

मुनिश्री—कुछ ग्रथो म भिन्न क्रम भी मिलता है पर प्रस्तुत क्रम सायक भी है। पिण्ड (शरीर), पद (भाषा) और रूप मे दूसरे की अपेक्षा पहला अधिक निकट है।

सामुदायिक साधना के आठ सूत्र

१ सत्-व्यवहार

प्रस्तुत शीर्षक मे सत् और व्यवहार, ये दो शब्द हैं। पहला सत् शब्द है। सत् अर्थात् सत्ता, अस्तित्व। दूसरा अर्थ है—सत् यानी अच्छा। सत् के ये दो अर्थ प्रचलित हैं। यहा दोनो ही अर्थ गृहीत हैं। सत्-व्यवहार यानी आत्मीय व्यवहार या सौजन्यपूर्ण व्यवहार। आत्मीय तो प्रथम है ही। सौजन्यपूर्ण व्यवहार को भी बहुत महत्त्व दिया गया था। आचार्य सोमप्रभ ने लिखा है—

वर विभववन्ध्यता सुजनभावभाजा नृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरर्जिता सम्पद ।
कृशत्वमपि शोभते सहज मायतौ सुन्दर,
विपाकविरसा न तु स्वयथुसभवा स्थूलता ।

सौजन्य अच्छा है, भले फिर कुछ भी न मिले। दौजन्य से कुछ मिलता है तो वह शोथ-जनित स्थूलता है। उस स्थूलता की अपेक्षा कृशत्व बहुत अच्छा है। वह स्थूलता रोग है और कृशता स्वास्थ्य।

असत्-व्यवहार की कसौटी क्या है जिससे कसकर हम समझ सकें कि यह व्यवहार असत् है और यह सत्। असत्-व्यवहार की तीन कसौटिया हैं—क्रूरता, कपट और निरपेक्षता। सद्व्यवहार की तीन कसौटिया हैं—मृदुता, मैत्री और सापेक्षता।

क्रूरता

जिस व्यवहार की भूमिका मे क्रूरता हो, वह सत नही हो सकता।

कई धार्मिक कहते है—धार्मिक के लिए व्यवहार की क्या आवश्यकता है? पर मैं समझता हूं कि हृदय में अहिंसा और अध्यात्म है और व्यवहार में क्रूरता है, क्या यह सम्भव है? धार्मिक का व्यवहार क्रूर हो ही नही सकता। इसलिए व्यवहार के सत् होने में एक शर्त है कि वह मृदु हो।

जैनेन्द्र—कही असहिष्णुता भी सद्व्यवहार का अग हो सकती है?

मुनिश्री—हा, हो सकती है।

जैनेन्द्र—असहिष्णुता होगी तो कठोरता आ जाएगी।

मुनिश्री—कुम्हार घड़े को पीटता है पर नीचे उसका हाथ रहता है। मृदु-व्यवहार में इसका अवकाश है।

जैनेन्द्र—सत-व्यवहार की कसौटी आत्मीयता हो सकती है मृदु कैसे?

मुनिश्री—मैंने क्रूरता के प्रतिपक्ष में मृदुता का प्रतिपादन किया है, कठोरता के प्रतिपक्ष में नहीं। कठोरता क्रूरता से भिन्न है। मा का पुत्र के प्रति और गुरु का शिष्य के प्रति आवश्यकतावश कठोर-भाव हो सकता है, पर क्रूरता नही।

भगवान् महावीर ने क्रूर व्यवहार को वर्जित करने वाले अनेक व्रतो का विधान किया। वृत्तिच्छेद, वन्ध, अगच्छेद, अतिभार आदि-आदि के वर्जन को चाहे आप अहिंसा कहे, चाहे क्रूर व्यवहार का वर्जन। नौकर, मुनीम आदि जो अपने आश्रित हो, उनकी आजीविका का विच्छेद करना वर्जित है। वह धार्मिक भी कहा है, जो गाय के दूध न देने पर घास न डाले। पशु पर अधिक भार न लादा जाय, यह क्रूर व्यवहार का वर्जन है। क्रूरता मे धर्म टिकेगा कैसे? भोजन मे अमृत भी है, जहर भी है। दोनो एक साथ कैसे होगे? धर्म भी है क्रूरता भी है, दोनो साथ-साथ नही हो सकते। व्यवहार मे क्रूरता है तो वहा धर्म की आशा नही करनी चाहिए। व्यवहार की मृदुता का एक सूत्र है—इच्छाकार। यह जैन मुनियो की एक सामाचारी है। इसका हार्द है—'यदि आप चाहे तो यह काम करें।' गुरु भी सामान्यतया इच्छाकार सामाचारी का प्रयोग करते हैं। फिर व्यवस्था कैसे चलेगी? आज्ञा देना—करना ही होगा—यह विशेष स्थिति मे प्राप्त

है। जितना मेरा अस्तित्व है, उतना ही सामनेवाले का है। दोनो का अस्तित्व सापेक्षता से जुडा है। एक मेरी अपेक्षा है, एक दूसरे की है। मैं उसकी अपेक्षा मे योग दू और वह मेरी अपेक्षा मे योग दे, यह समाज या सामूहिकता का आधार है। प्राचीनकाल मे दास क्रीत होता था। खरीदने के बाद वह उसका होता था। क्रीत को प्राणदण्ड भी दिया जाता था। इस-लिए दास-प्रथा जघन्य मानी गई और उसका विच्छेद किया गया।

कपट

कुछ लोग कहते हैं कि आज के युग मे सरलता उपादेय नहीं है। मुझे लगता है कि सरलता शाश्वत सत्य है। वह सदा उपादेय है। उसके बिना मन की शान्ति मिल ही नही सकती। सरलता को अनुपादेय बताने वाले भूल जाते हैं कि सरलता और भोलापन एक नही है।

कुछ शब्द रूढ हो गए हैं। उनमे परिवर्तन की अपेक्षा है।

जैनेन्द्र—सदाचार शब्द चलता है। किन्तु सदाचार काफी नही, सत्या-चार होना चाहिए। सदाचार समाज की मानी हुई तात्कालिक नीति है। यदि धर्माचरण का विचार भी वही तक रह गया तो जिस क्रान्ति की आवश्यकता है, वह धर्म की ओर से नही आएगी, धर्म को उससे गहरे जाना चाहिए। शान्ति-सहिष्णुता आदि शब्द भी कुछ वैसे ही रूढार्थ मे प्रयुक्त होने लगे हैं।

मुनिश्री—सदाचार मे सत् शब्द है, वह भी सत्य का वाचक है। सत् अर्थात् सत्य। समय की मर्यादा के साथ दूसरा अर्थ आ गया। सदाचार सत्याचार ही नहीं रहा, अच्छा आचार भी बन गया। भाषाशास्त्र के अनु-सार शब्द का अपकर्ष और उत्कर्ष होता रहा है।

जैनेन्द्र—सत्याचार की अभिव्यक्ति वह होगी, जो आज सदाचार में नहीं है।

मुनिश्री—यह ठीक है। सदाचार के पीछे जो भावना आ गई है, शब्द-परिवर्तन से उसमे भावना भी परिवर्तित हो सकती है।

जैनेन्द्र—साहित्य मे प्रतिक्रिया और पलायन—दो शब्द बहुत चल

रहे ह । मुझे पलायनवादी कहा जाता है । मैं कहता हू, ऐसा कौन है जो बैल को सामने देखकर पलायन न करे ?

मुनिश्री—हर शब्द की यही स्थिति है। उत्कर्ष, अपकर्ष, उत्क्रान्ति, अपक्रान्ति से मुक्त कोई शब्द नही है। आज से दो-ढाई हजार वर्ष पहले 'पाषड' शब्द श्रमण-सूचक था। अशोक के शिलालेख, जैन और बौद्ध साहित्य म उसका गौरव के साथ प्रयोग हुआ है। आज 'पाषड' शब्द कुत्सित बन गया है। पाषडी कहने से अप्रिय-सा लगता है।

जैनेन्द्र—असुर शब्द हमारे लिए घृणा का है पर ईरान और फारस मे असुर देव के लिए है।

मुनिश्री—प्राचीन साहित्य मे असुर शब्द देव के अर्थ मे था। यक्ष भी महत्त्वसूचक था। आज उससे भिन्न है। आज 'साहसिक' शब्द प्रशसासूचक है। जब चला था, उस समय अविमृश्यकारी—बिना विचारे कार्य करने वाले के अर्थ म था। अर्थ के अपकर्ष का उत्कर्ष हो गया।

राजेन्द्र—तो क्या शब्द विचार-जनित है ?

मुनिश्री—शब्द प्रवृत्ति और विचार दोनो की सृष्टि है। शब्द मे अपने आप कोई शक्ति नही, वह मात्र द्योतक है। कर्म तेजस्वी होता है तो शब्द गौरव पा लेता है। उसके क्षीण होने पर शब्द-शक्ति भी क्षीण हो जाती है। राजा यानी ईश्वर जो था, वह आज राज-कर्म क्षीण होने से अप्रिय बन गया, इतिहास का शब्द रह गया।

राजेन्द्र—कर्म समाज-जनित है या विचार-जनित ?

मुनिश्री—कोई भी कर्म पहले विचार म आता है। व्यवहार विचार की प्रतिकृति है। विचार और कर्म का कार्य-कारण सम्बन्ध है। विचार के विकास की पृष्ठभूमि समाज है। इसलिए हम कह सकते ह—समाज मे विचार और विचार से कर्म निष्पन्न होता है।

राजेन्द्र—सामाजिक कर्म के निर्माण मे विचार कारण है या विचार के निर्माण मे सामाजिक घटना ?

मुनिश्री—सामाजिक घटनाओ मे से विचार फलित होते

उनसे कम निष्पन्न होते हैं।

राजेन्द्र—जो विचार हममे हैं, वे बाह्य प्रतिक्रिया से पैदा हुए ह, इसलिए वे क्रियात्मक नही, किन्तु प्रतिक्रियात्मक हैं। जैसे गणित का प्रश्न है, उसका हल अनूठा हो सकता है पर वह अनूठा होने पर भी उस प्रश्न का वन्दी है।

जैनेन्द्र—(ये कहते ह) अपने विचार के विभु नही, अधीन ह।

मुनिश्री—प्रश्न के वाद उत्तर निष्पन्न होता है, इसलिए प्रश्न के उसका अधीन होना स्वाभाविक है। विचार के पीछे प्रश्न ही नहीं, व्यक्ति के अपने सस्कार भी ह और वाह्य प्रतिक्रिया भी। मन मे विचार उठता है, यह क्यो ? क्योकि आपके अपने सस्कार हैं। हर विचार अपनी प्रतिक्रिया छोड जाता है। आज कोई विचार करते हैं, उसकी प्रतिक्रिया शेष रहती है, तभी स्मृति होती ह। वाह्य परिस्थिति का प्रभाव भी होता है।

राजेन्द्र—हमारे सारे विचार सामाजिक घटनाओ से तो छनकर आ रहे हैं।

मुनिश्री—आ सकते हैं पर यह एकान्तिक वात नही है। हमे वहुत वार स्थूल मन (चेतन मन) के पीछे जो अचेतन मन (अधिक सम्पन्न) है, उससे निर्देश मिलते ह।

राजेन्द्र—क्या उससे कुछ नई निष्पत्ति होती है ?

मुनिश्री—ऐसी कोई घटना नही हो सकती, जिसे हम सोलह आना नई कह सकें। नरसिंह का अवतार एक नई घटना है पर उसमे नर और सिंह दोनो का योग है। सारी विचित्रता योगज निष्पत्ति है। वैज्ञानिक प्रयोग भी विलकुल नये नही हैं। दो का होना नया नही है, नया है अनेक मे से किन्हीं दो का योग। जितनी औषधिया हैं, वे क्या हैं ? वनस्पति के योग ही तो हैं। आदि से अन्त तक कोई नई सृष्टि नही है। योग का प्रयोग नया है।

जैनेन्द्र—विचार की क्रिया का कारण भीतर नही है। क्रिया का कारण व्याप्त परिस्थिति या समय है।

राजेन्द्र—अहता हमारी प्रतिक्रिया का पिण्ड है।

रहे ह। मुझे पलायनवादी कहा जाता है। मैं कहता हू, ऐसा कौन है जो बैल को सामने देखकर पलायन न करे ?

मुनिश्री—हर शब्द की यही स्थिति है। उत्कर्ष, अपकर्ष, उत्क्रान्ति, अपक्रान्ति म मुक्त कोई शब्द नही है। आज से दो-ढाई हजार वर्ष पहले 'पाषड' शब्द श्रमण-सूचक था। अशोक के शिलालेख, जैन और बौद्ध साहित्य म उसका गौरव के साथ प्रयोग हुआ है। आज 'पाषड' शब्द कुत्सित बन गया है। पाषडी कहने से अप्रिय-सा लगता है।

जैनेन्द्र—असुर शब्द हमारे लिए घृणा का है पर ईरान और फारस मे असुर देव के लिए है।

मुनिश्री—प्राचीन साहित्य मे असुर शब्द देव के अर्थ मे था। यक्ष भी महत्त्वसूचक था। आज उसमे भिन्न है। आज 'साहसिक' शब्द प्रशसासूचक है। जब चला था, उस समय अविमृश्यकारी—बिना विचारे कार्य करने वाले के अर्थ मे था। अर्थ के अपकर्ष का उत्कर्ष हो गया।

राजेन्द्र—तो क्या शब्द विचार-जनित है ?

मुनिश्री—शब्द प्रवृत्ति और विचार दोनो की सृष्टि है। शब्द मे अपने आप कोई शक्ति नही, वह मात्र द्योतक है। कर्म तेजस्वी होता है तो शब्द गौरव पा लेता है। उसके क्षीण होने पर शब्द-शक्ति भी क्षीण हो जाती है। राजा यानी ईश्वर जो था, वह आज राज-कर्म क्षीण होने से अप्रिय बन गया, इतिहास का शब्द रह गया।

राजेन्द्र—कर्म समाज-जनित है या विचार-जनित ?

मुनिश्री—कोई भी कर्म पहले विचार मे आता है। व्यवहार विचार की प्रतिकृति है। विचार और कर्म का कार्य-कारण सम्बन्ध है। विचार के विकास की पृष्ठभूमि समाज है। इसलिए हम कह सकते है—समाज मे विचार और विचार स कर्म निष्पन्न होता है।

राजेन्द्र—सामाजिक कर्म के निर्माण मे विचार कारण है या विचार के निर्माण म सामाजिक घटना ?

मुनिश्री—सामाजिक घटनाओ मे से विचार फलित होते ह। फिर

उनसे कम निष्पन्न होते हैं।

राजेन्द्र—जो विचार हममे हैं, वे बाह्य प्रतिक्रिया से पैदा हुए है, इसलिए वे क्रियात्मक नही, किन्तु प्रतिक्रियात्मक हैं। जैसे गणित का प्रश्न है, उसका हल अनूठा हो सकता है पर वह अनूठा होने पर भी उस प्रश्न का बन्दी है।

जैनेन्द्र—(ये कहते हैं) अपने विचार के विभु नही, अधीन हैं।

मुनिश्री—प्रश्न के बाद उत्तर निष्पन्न होता है, इसलिए प्रश्न के उसका अधीन होना स्वाभाविक है। विचार के पीछे प्रश्न ही नही, व्यक्ति के अपने सस्कार भी है और बाह्य प्रतिक्रिया भी। मन मे विचार उठता है, यह क्यो ? क्योकि आपके अपने सस्कार हैं। हर विचार अपनी प्रतिक्रिया छोड जाता है। आज कोई विचार करते हैं, उसकी प्रतिक्रिया शेष रहती है, तभी स्मृति होती है। बाह्य परिस्थिति का प्रभाव भी होता है।

राजेन्द्र—हमारे सारे विचार सामाजिक घटनाओ से तो छनकर आ रहे हैं।

मुनिश्री—आ सकते हैं पर यह एकान्तिक बात नही है। हमे बहुत बार स्थूल मन (चेतन मन) के पीछे जो अचेतन मन (अधिक सम्पन्न) है, उससे निर्देश मिलते हैं।

राजेन्द्र—क्या उससे कुछ नई निष्पत्ति होती है ?

मुनिश्री—ऐसी कोई घटना नहीं हो सकती, जिसे हम सोलह आना नई कह सकें। नरसिंह का अवतार एक नई घटना है पर उसमे नर और सिंह दोनो का योग है। सारी विचित्रता योगज निष्पत्ति है। वैज्ञानिक प्रयोग भी बिलकुल नये नही हैं। दो का होना नया नही है, नया है अनेक मे से किन्हीं दो का योग। जितनी औषधिया हैं, वे क्या हैं ? वनस्पति के योग ही तो हैं। आदि से अन्त तक कोई नई सृष्टि नहीं है। योग का प्रयोग नया है।

जैनेन्द्र—विचार की क्रिया का कारण भीतर नहीं है। क्रिया का कारण व्याप्त परिस्थिति या समय है।

राजेन्द्र—अहता हमारी प्रतिक्रिया का पिण्ड है।

मुनिश्री—अहता के पीछे एक और भी है जो उससे भिन्न है और योगज है। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त न्यूटन ने दिया। सिद्धान्त की कल्पना बाह्य निमित्त से आयी। उसके पीछे कोई शास्त्रीय ज्ञान नही था। तत्काल सेव को गिरते देख कल्पना हुई। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त यदि केवल घटनाओ की प्रतिक्रिया होती तो वह पहले भी हो सकता था और किसी भी व्यक्ति को हो सकता था। वह न्यूटन को ही क्यो हुआ? किसी दूसरे को क्यो नही हुआ? इस चर्चा को समाप्त करने से पूर्व हम इतना और समझ लें कि व्यक्ति की अपनी योग्यता और बाह्य घटना दोनो के योग से कोई नया ज्ञान निष्पन्न होता है।

राजेन्द्र—चित्त को स्वीकार न करने मे क्या कठिनाई है?

मुनिश्री—कठिनाई कोई नहीं, उसे न मानना स्वाभाविक है। उसे मानने मे पराक्रम की आवश्यकता है। जो दृश्य है, वह चित्त नही है। इस-लिए आस्तिक की अपेक्षा नास्तिक होना अधिक सरल है।

जैनेन्द्र—आस्तिकता ऐसी चीज़ है, जो घर में पैदा होने से ही आ जाती है। नास्तिकता बुद्धि के प्रयोग मे होती है। मैं पहले आस्तिक था, फिर बहुत वर्षों तक अपने को नास्तिक कहता था। अब मानने लगा हू आस्तिक हू। पहली आस्तिकता जल्दी टूट गई।

मुनिश्री—यह आस्तिकता पुरुषार्थ से आयी। मन, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीर आदि जो साधन है, वे आत्मा के अस्तित्व की जानकारी के प्रत्यक्ष सहायक नही हैं। डॉक्टर अणु-अणु को बिखेर देता है पर शरीर मे कही भी चित्त नही मिलता। इसीलिए मैं कह रहा था चित्त को मानना आश्चर्य है।

जैनेन्द्र—स्वीकार करता हूँ, कुछ है पर चित्त नही है।

मुनिश्री – चेतना की निष्पत्ति मानते हैं, अनुस्यूत चेतना नही मानते। त्रैकालिक चेतना का स्वीकार बहुलाश मे आस्था के बल पर माना जाता है। बुद्धि के बल पर माना जाए तो वह दो वकीलो के वाद-विवाद का-सा रूप हो जाता है, हाथ कुछ नही आता। आस्था, अनुभूति और ध्यान का पक्ष प्रबल हो जाए तो फिर चित्त के अस्वीकार मे कठिनाई होगी।

राजेन्द्र—शरीर के बिना चैतन्य का कोई अस्तित्व है ?

जैनेन्द्र—प्रेत है। प्रेत यानी शरीर-मुक्त चित्त।

राजेन्द्र—प्रेत या तो है नही और है तो शरीर-मुक्त नही।

मुनिश्री—विद्युत् मे प्रकाश की शक्ति है पर उसकी अभिव्यक्ति वल्व मे होती है। वैसे ही चित्त की अभिव्यक्ति शरीर मे होती है।

राजेन्द्र—विद्युत् को प्राथमिकता देते हैं, वल्व को क्यो नही देते ?

मुनिश्री—विद्युत् आगत है, वल्व मे निष्पन्न नही। इसी प्रकार शरीर मे चेतना निष्पन्न नही, अनुस्यूत है।

राजेन्द्र—चित्त को शरीर से भिन्न जानने की वैज्ञानिक पद्धति क्या है ?

जैनेन्द्र—शरीर से भिन्नता का पीछा करना आपको क्यो आवश्यक है ?

मुनिश्री—आपके पास प्रयोगशाला है। आप शरीर के कण-कण की छानबीन कर सकते हैं पर शरीर मे मुक्त चैतन्य को जानने के आपके पास साधन कहा हैं ? हमारे पास ज्ञान के साधन पाच इन्द्रिया हैं। वे शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श को जान सकती हैं। उनको शरीर द्वारा जाना जा सकता है, उसमे विद्यमान चैतन्य को नही जाना जा सकता। यदि आप शरीर और चैतन्य की भिन्नता जानना चाहते हैं तो उसका साधन ध्यान है। समुचित मात्रा मे ध्यान करने पर आपको यह अनुभूति न हो तो मुझे आश्चर्य होगा।

जैनेन्द्र—धर्म मे से पराक्रम निकले तव अध्यात्म सम्पन्न होता है, अन्यथा शैथिल्य रहता है। अन्याय होता है।

मुनिश्री—उत्थान, वल, वीर्य पुरुषकार और पराक्रम—ये पाच शब्द हैं। इनसे मुक्त कोई भी धर्म-क्रिया नही है। इनका उपयोग रण में भी हो सकता है और धर्मक्षेत्र मे भी हो सकता है और व्यापार मे भी हो सकता है। पराक्रम शून्य है तो निकम्मा है। यह मान लिया कि जो धार्मिक है, उसे सहिष्णु होना चाहिए, एक गाल पर थप्पड मारे तो दूसरा गाल सामने कर

देना चाहिए। इनमे पराक्रम की भावना नही, हीनता आ गई है। उपवास चैतन्य का पराक्रम है। आज उपवास 'न खाना' मात्र रह गया है।

जैनेन्द्र—'जिन' शब्द मे भी पराक्रम था।

राजेन्द्र—जैनेन्द्र मे भी है।

जैनेन्द्र—जैनेन्द्र मे 'जिन' के साथ 'इन्द्र' का योग आ गया। समर्पण हीन-भावना नही है। हीन-भावना के कारण अपने को कुछ न मानना नपुंसकता है। प्रार्थना मे हीन-भावना नही, नम्रता है, आकिंचन्य है।

मुनिश्री—आकिंचन्य मे तीन लोक का प्रभुत्व है।

सापेक्षता

सापेक्ष व्यवहार अर्थात सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार। सामाजिक प्राणी को हर स्थिति मे अपेक्षा रहती है। समाज का आधार ही सापेक्षता है। उससे प्रेम का वातावरण बनता है। उपेक्षा मे उदासीनता आती है और दूरी बढती है। आचार्यश्री महोत्सव के दिनो मे अधिक व्यस्त रहते है। व्यस्तता के कारण किसी की बात को ध्यान मे नही सुना जाता तो वह समझता है मेरे प्रति निरपेक्ष व्यवहार हो रहा है। यह साधुओ की स्थिति है, दूसरो की स्थिति तो और अधिक चिन्तनीय होगी। हर व्यक्ति चाहता है मेरी अपेक्षा हो। अपेक्षा का सम्बन्ध मधुर होता है। सापेक्षता मे कठोर व्यवहार भी खलता नही है। अच्छा व्यवहार करते हुए भी निरपेक्षता झलके तो सामने वाला कहेगा, यह तो ऊपर का व्यवहार है, दिखावा है। परिवार मे कटुता आती है, उसके पीछे निरपेक्षता रहती है, जितनी सहानुभूति की आवश्यकता होती है उसका अभाव रहता है। मैंने अपने जीवन मे अनुभव किया है। मैंने अपनी व्यस्तता के कारण कभी-कभी आवश्यकता से कम बातचीत की, फलत मुझे अव्यावहारिक बताया गया। मैंने उनके साथ असत्-व्यवहार नही किया, फिर भी सापेक्षता नही बरती जितनी सामाजिक जीवन मे बरतनी चाहिए थी। इसीलिए मैं अव्यावहारिक बन गया। घर के मुखिया इस ओर सजग नही होते तब प्रतिक्रिया होती है। इसीलिए प्रमुख व्यक्ति इस ओर सजग रहते है। आचार्यश्री ने इसी वर्ष

मर्यादा-महोत्सव के दिनो मे साधु-साध्वियो से कहा कि जिसको आवश्यकता हो, वह मेरे से समय माग ले। उन्होने एक-एक को आमन्त्रित कर बातचीत की। दस मिनट की बातचीत मे आचार्यश्री उन्हे क्या दे देते हैं। फिर भी वे सापेक्षता के वातावरण मे पा अपने को सार्थक मानते हैं, कृत-कृत्य हो जाते है। कृतार्थता सापेक्षता से आती है, प्राप्ति से नही।

चन्दन—क्या यह राग नही है ?

मुनिश्री—अनुराग है। अभी हम धर्मानुराग से रक्त है। सम्यक् दर्शन के आठ सूत्र है। उनमे एक वात्सल्य है। वात्सल्य के बिना एकसूत्रता नही रहती। उससे कई बातें फल जाती हैं। वात्सल्य से कठोर अनुशासन भी कर सकते हैं, प्रायश्चित्त भी दे सकते हैं, ऐसी परिस्थिति मे भी डाल सकते हैं, जिसकी कल्पना करना कठिन है। वात्सल्य का धागा सहानुभूति की सूई मे सहज ही पैठ जाता है। अनुराग और विराग दो नही है। एक के प्रति अनुराग ही दूसरे के प्रति विराग है। आत्मा, परमात्मा, मोक्ष या धर्म के प्रति जो अनुराग है, वह शुद्ध है।

चन्दन—क्या वात्सल्य या अनुराग मोह नही है ?

मुनिश्री—हो सकता है पर सामाजिक जीवन के सम्बन्धो से उसे निकाल कैसे पाएगे ? पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। पिता पुत्र की चिन्ता करता है, अपेक्षा के साथ निर्वाह करता है, तो व्यवहार माधुर्यपूर्ण होता है। यदि वह एकत्व की भावना से सोचे—'अकेला ही व्यक्ति आया है, अपने ही पुण्य-पाप साथ चलते हैं, कौन किसका साथी है'—और परिवार मे रहता हुआ भी निरपेक्ष व्यवहार करे तो वह व्यवहार पुत्र के मन मे पिता के प्रति शत्रु-भाव पैदा करता है। राजा उद्रायण के मन मे आया, पुत्र को राज्य नहीं देना चाहिए, क्योकि राजा नरकगामी होता है। पुत्र को क्यो नरक मे ढकेला जाए ? इसलिए उसने अपना राज्य पुत्र को न देकर भानजे को दिया। परिणाम यह आया कि पिता के प्रति पुत्र का द्वेष हो गया और वह अन्तिम समय तक बना रहा।

उसने कहा—सबसे क्षमा-याचना कर सकता हू पर पिता से नही।

भानजे के मन मे आया—मामा कही वापस आकर राज्य न ले ले, इसलिए उसने उद्रायण को मार डालने का प्रयत्न किया। व्यवहार का लोप करने से यह परिणाम आया।

जैनेन्द्र—क्या निश्चय और व्यवहार—ये दो बातें मन मे रखनी पड़ेंगी? निश्चय मे से व्यवहार नही निकल सकता क्या? व्यवहार स्वय निश्चय की साधना मे फलित होगा। निश्चय को साधेंगे तो अनुराग, विराग नही होगा। व्यवहार की ओर झुके तो निश्चय टूटेगा, निश्चय पर झुके तो व्यवहार टूटेगा। निश्चय को पूरी ईमानदारी से पालन करेंगे तो व्यवहार स्वय सधेगा।

मुनिश्री—तीर्थंकर सारे व्यवहार का प्रवर्तन करते है, सघ का प्रवर्तन करते हैं, व्यवस्था का प्रवर्तन करते हैं। यह व्यवहार कहा से आया? प्रवृत्ति उनके जीवन मे कहा से आयी? निश्चय म से ही व्यवहार निकला है। तीर्थंकर कृतकृत्य हो गए, उनके लिए करना कुछ प्राप्त नही, फिर भी वे करते हैं। कोई भी शरीरधारी व्यवहार से मुक्त नही हो सकता। जब तक शरीर का पराक्रम है, तब तक व्यवहार होता रहेगा। श्रावक के बारह व्रतो मे एक अतिचार है कि 'अपने आश्रितो की जीविका का विच्छेद नही करूगा।' यह व्यवहार कहा से आया? जो जितना धार्मिक होगा, उसका व्यवहार भी उतना ही सुखद होगा।

जैनेन्द्र—व्यवहार मे जितनी त्रुटि हो उतनी ही धार्मिकता की कमी होगी।

मुनिश्री—रूपचन्द्रजी सेठिया धर्मनिष्ठ श्रावक थे। वे जितने धर्म-निष्ठ थे, उतने ही व्यवहार के प्रति सजग थे।

चन्दन—क्या व्यवहार मोह नही है?

मुनिश्री—आप व्यवहार मे केवल मोह ही क्यो देखते है, उसके साथ जुडे हुए न्याय या समभाव को क्यो नही देखते? कल्पना कीजिए—एक पिता के चार लडके हैं। एक के प्रति अधिक स्नेह है। उसे दो लाख रुपये देता है। दूसरे को एक लाख, तीसरे और चौथे को आधा-आधा लाख।

परिणाम होगा कि परस्पर झगडे होगे। पिता अपने को धार्मिक भले माने पर पुत्र उसे अधार्मिक और अव्यावहारिक मानेंगे। यदि व्यवहार धम मे प्रभावित होता तो सबके प्रति समान वृत्ति होती। तीन के प्रति अन्याय नही होता।

चन्दन—अन्याय न हो, यह ठीक है। पर एक-दूसरे के प्रति भावना होती है, वह क्या हमारे पूव-कम का परिणाम नही है ?

मुनिश्री—हमारी मान्यता और नीति भी तो हो सकती ह।

जैनेन्द्र—पर मैं मानता हू कि इसकी जिम्मेदारी सामने वाले व्यक्ति पर भी होती है।

मुनिश्री—वीतराग के प्रति भी किसी का असन्तोष हो सकता है।

जैनेन्द्र—बल्कि तीव्र असन्तोष होता है। हमे कोई मारने नही आता पर गाधीजी को मार दिया। ईसा प्रेम की मूर्ति थे पर उन्ह फासी मिली।

मुनिश्री—वैषम्य अपनी मनोवृत्ति के कारण उपजता है।

जैनेन्द्र—जिन्होंने फासी लगाई ईसा को, ईसा के मन मे भी उनके प्रति प्रेम था। यह ईसा का गुण था। जगत् के सचालन मे धर्म की आराधना करने वाला बाहर देखे, मेरे कारण क्या हो रहा है तो वह कुछ नही कर सकता।

मुनिश्री—सावधानी यह बरतनी है कि अपनी द्वेषात्मक प्रवृत्ति से तो कुछ नही हो रहा है। घर का दायित्व ले रखा है और उस स्थिति का लोप करना है तो विषमता पैदा होती है। उस स्थिति मे होना और उसका लोप करना इन दोनो मे कोई मेल नही है। कोई दायित्व न ले तो कोई कठिनाई नही। दायित्व ओढ ले और फिर न निभाए तो कठिनाई पैदा होती है।

चन्दनबाला का पिता राजा दधिवाहन था। शतानीक ने आक्रमण किया। वह युद्ध के भय से भाग निकला। सैनिक आए, नगर को लूटा। रानी को मरना पडा। चन्दनबाला को उठा ले गए। क्या हम मान ले, राजा भागा, उसके पीछे अहिंसा की प्रेरणा थी ? अहिंसा नही, प्रत्युत कायरता थी।

सबके साथ विश्वासघात और कर्तव्य के प्रति गैरजिम्मेदारी। वह वैराग्य नही, दायित्व के प्रति विमुखता थी। यदि वैराग्य होता तो वह राज्य के दायित्व को अपने कन्धो पर ओढ़ता भी क्यो ?

चन्दन—दायित्व ले और उसे निभाए तो क्या धर्म होता है ?

मुनिश्री—व्यवहार के प्रति सावधान रहने वाला दूसरो के मन मे धर्म के प्रति रुचि पैदा करता है। हम छह साधु है। एक बीमार है। मैं सोचू—'इधर समय लगाने मे मेरे ध्यान मे बाधा आएगी। अगला लिखाकर लाया है। स्वय अपना कर्म अपने आप भोगता है, मैं क्या करू ?' यदि मैं ऐसा सोचू तो मैं धर्म के प्रति विमुखता पैदा करूगा, सम्मुखता कभी नही।

चन्दन—पत्नी बीमार है, ध्यान का समय आ गया। उस समय पति ध्यान करे या पत्नी की सेवा ?

मुनिश्री—ध्यान को मैं बहुत आवश्यक मानता हू पर व्यवहार मे रहने वाला सेवा का लोप कैसे करेगा, जहा दूसरो के मन मे धर्म और धार्मिक के प्रति विमुखता उत्पन्न होने का प्रसग हो।

जैनेन्द्र—सहानुभूति रहती है तो कोई व्यवहार बुरा नही है। व्यवहार की विमुखता अपने आप मे क्रूरता है।

मुनिश्री—अहिंसा की बात परिणाम-काल मे सोचने की अधिक होती है, जबकि होनी चाहिए स्वीकार काल मे। एक बार आचार्यश्री ने कहा था—राष्ट्र को रखना चाहते हैं, उस पर अधिकार रखना चाहते हैं तब अहिंसा की बात नही सोचते, उसकी बात तो केवल सुरक्षा के समय सोचते हैं। हिंसा का मूल परिग्रह की सुरक्षा मे नही किन्तु स्वीकार मे है।

फूलकुमारी—परिवार बटने पर अलग हो जाए, फिर व्यवहार की स्थिति क्या होगी ?

मुनिश्री—महावीर और बुद्ध घर से चले गए, उन पर दायित्व नही रहा। सम्बन्ध रखने की स्थिति मे यह बात लागू होती है। कोई व्यक्ति घर से निकलकर जगल मे चला जाता है तो उसकी स्थिति भिन्न हो जाती है। सम्बन्ध का दायित्व लेकर उसका पालन नही करता है, वह धार्मिक

अपने व्यवहार से आसपास के अनेक लोगो को धर्म-विमुख बना देता है। अन्तरग का वैराग्य घनीभूत हो जाए, वहा व्यवहार के प्रश्न समाप्त हो जाते हैं।

२ प्रेम का विस्तार

विस्तार यानी फैलना। 'स्व' की सीमा को लाघकर 'पर' की सीमा मे प्रवेश पाना या 'स्व-पर' की सीमा का भेद विसर्जित करना। व्यापारी प्रसरण करते हैं, अप्राप्त काम-भोगो की प्राप्ति के लिए, अनुपलब्ध काम-भोगो की उपलब्धि के लिए। एक विस्तार ऐसा है जिसमे दोष प्राप्त होता है और एक विस्तार ऐसा है जिसमे दोष विसर्जित होता है। घृणा दोष है। व्यक्ति के मन मे अपने प्रति उत्कर्ष का भाव होता है और दूसरे के प्रति हीन-भाव। यह भाव-भेद घृणा उत्पन्न करता है। अपने प्रति आकर्षण घनीभूत होता है, तो दूसरे के प्रति घृणा के सिवाय कुछ बच नही रहता। घृणा को मिटाने का सबसे अच्छा उपाय है प्रेम का इतना विस्तार कि जिसमे घृणा का अवकाश ही न रहे।

एक व्यक्ति प्रिय है, दूसरा अप्रिय। प्रिय के प्रति प्रेम होता है, अप्रिय के प्रति जुगुप्सा। इस भूमिका मे प्रेम की व्यापकता या सघनता नही है, इसलिए इसमे घृणा का अवकाश है। जहा घृणा है वहाँ द्वेष है। जहा द्वेष है वहा मानसिक अशान्ति है। घृणा हो और मानसिक अशान्ति नहीं, ऐसा हो नही सकता। घृणा और मानसिक शान्ति दोनो साथ-साथ नही चल सकती।

प्रश्न—क्या घृणित वस्तु से भी प्रेम करें ?

घृणा उस वस्तु मे नही, अपने मन मे है। विश्व के सारे के सारे पदार्थ सुन्दर बन जाए, कभी सम्भव नही। स्थिति का द्वैध रहेगा। पर उसके आधार पर घृणा होना अनिवार्य नही है। हमे जो प्रिय है क्या वह सुन्दर है? इसका उत्तर अनेकान्त की भाषा मे मिलता है। एक वस्तु सुन्दर

नही है, फिर भी प्रिय है। एक वस्तु सुन्दर है पर प्रिय नहीं है। एक वस्तु सुन्दर भी है और प्रिय भी है। एक वस्तु सुन्दर भी नही है और प्रिय भी नही है। सुन्दरता और प्रियता की नितान्त घनिष्ठता नही है।

जैनेन्द्र—सुन्दरता दृष्टि मे स्वतन्त्र चीज है क्या ? उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है क्या ?

मुनिश्री—सुन्दरता संस्थानगत और रूपगत होती है। प्रियता मनोगत होती है। कडवी से कडवी चीज़ भी मनोगत हो सकती है पर मधुर नही। अमुक स्त्री सुन्दर है पर पति के मन को नहीं भाती। यह क्यो ? उसके प्रति प्रियता का मनोभाव नही हुआ। प्रियता जहा जुटती है वहा घृणा नही रहती। मन मे प्रेम का विस्तार हो तो सामने वाली वस्तु गौण हो जाएगी कि वह मनोरम है या मनोरम नही है। प्रेम का विस्तार सबको समा लेता है, वह 'प्रति' पर निर्भर नही होता, अपने पर निर्भर होता है। 'प्रति' का अर्थ किसी के प्रति नही यानी सबके प्रति। प्रेम सम्बन्ध का विस्तार नही आत्मगुण का विस्तार है।

जैनेन्द्र—*आत्म-विस्तार मे शायद तारतम्य का अवकाश नही देखते हैं ?*

मोहन—किसी के चार लडके है। चारो के साथ लेन-देन मे हल्का-भारी व्यवहार होता है, यह क्यो ?

जैनेन्द्र—उस भेद का भी अवकाश है। चारो मे मोह-राग के कारण भेद नही है। विवेक कृत है। आत्म-गुण के विस्तार मे विवेक का तारतम्य डूबता नही है, सबकी समानता नहीं होती।

मुनिश्री—एक साधु ने वेश्या के घर चातुर्मास करने की आज्ञा मागी। गुरु ने स्थूलिभद्र को वहा जाने की आज्ञा दी थी पर उसे नही दी। आज्ञा नही दी, उसके पीछे प्रेम ही था। भले आप उसे विवेक कह ले। वहा जाना उसके हित मे नही था इसलिए उसे आज्ञा नही दी। मा चार वर्ष के बच्चे को चाबी नही देती, बडो को दे देती है। वहा प्रेम की कमी नही, विवेक है। प्रेम मे अन्तर नही होता, फिर भी व्यवहार मे भेद बुद्धि-कृत

आता है। सामने वाले के बुरे व्यवहार के कारण प्रेम मे अन्तर नही आएगा। विवक मे अन्तर इतना-सा आएगा कि उसे ऐसा काम नही सौपे जिससे उसकी हानि हो। विवेक पर-सापेक्ष है, प्रेम पर-सापेक्ष नही है।

कम की मर्यादा भिन्न-भिन्न है। एक दरिद्र को देख धनी के मन मे, महावीर के मन मे और एक विचारक के मन मे भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। धनी उसे दस रुपये दे सकता है, महावीर कुछ नही दे सकते।

मोहन—सामने जैसी वस्तु हो, वैसी ही मन स्थिति बन जाती होगी ?

मुनिश्री—सामने अच्छा आदश है और अपना विचार अपवित्र है तो पवित्रता फलित नही होगी। मूर्ति के प्रति श्रद्धा न हो तो अनुराग प्राप्त नही होगा। मूर्ति अपने आप मे न प्रेम बाटती है और न घृणा। हर निमित्त की यही स्थिति है।

जैनेन्द्र—प्रेम मे विवेक का स्थान नही है क्या ?

मुनिश्री—विवेक से व्यवहार फलित होता है, प्रेम तो अखण्ड होना चाहिए। कोई मेरे साथ पाच प्रतिशत व्यवहार ठीक करता है और कोई दस प्रतिशत। प्रेम भी उसी अनुपात से हो तो वह खण्डित हो जाएगा।

जैनेन्द्र—पर-सापेक्षता प्रेम के लिए सगत है।

मुनिश्री—विस्तार की प्रक्रिया क्या हो, यह सहजही प्रश्न हो सकता है। विस्तार का पहला सूत्र है—विचार की स्पष्टता या सम्यक् दशन। दूसरा सूत्र है—सकल्प का उपभोग। सकल्प की भाषा निश्चित और समय दीघ होना चाहिए। उतना दीघ कि उसे दोहराते-दोहराते उसमे तन्मयता आ जाए। भाषा का आकार एक होने से उत्तरोत्तर स्पष्टता आती है। आज कुछ, कल कुछ, परसो कुछ, इस प्रकार भाव-भाषा भिन्न होने से धारणा भिन्न-भिन्न बनेगी। हमारी पहचान निश्चित आकार से ही होती है। एक आकार होने से धारणा मे दृढता आती है। भाषा, भाव, स्थान और समय की निश्चितता अवश्य प्रभाव लाती है।

जैनेन्द्र—सकल्प मे कर्तृत्व सहायक नही, बाधक बनता है। 'मैं प्रेम

नहीं है, फिर भी प्रिय है। एक वस्तु सुन्दर है पर प्रिय नहीं है। एक वस्तु सुन्दर भी है और प्रिय भी है। एक वस्तु सुन्दर भी नहीं है और प्रिय भी नहीं है। सुन्दरता और प्रियता की नितान्त घनिष्ठता नहीं है।

जैनेन्द्र—सुन्दरता दृष्टि से स्वतन्त्र चीज है क्या? उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है क्या?

मुनिश्री—सुन्दरता संस्थानगत और रूपगत होती है। प्रियता मनोगत होती है। कड़वी से कड़वी चीज भी मनोगत हो सकती है पर मधुर नहीं। अमुक स्त्री सुन्दर है पर पति के मन को नहीं भाती। यह क्यों? उसके प्रति प्रियता का मनोभाव नहीं हुआ। प्रियता जहां जुड़ती है वहां घृणा नहीं रहती। मन में प्रेम का विस्तार हो तो सामने वाली वस्तु गौण हो जाएगी कि वह मनोरम है या मनोरम नहीं है। प्रेम का विस्तार सबको समा लेता है, वह 'प्रति' पर निर्भर नहीं होता, अपने पर निर्भर होता है। 'प्रति' का अर्थ किसी के प्रति नहीं यानी सबके प्रति। प्रेम सम्बन्ध का विस्तार नहीं आत्मगुण का विस्तार है।

जैनेन्द्र—आत्म-विस्तार में शायद तारतम्य का अवकाश नहीं देखते हैं?

मोहन—किसी के चार लड़के हैं। चारों के साथ लेन-देन में हल्का-भारी व्यवहार होता है, यह क्यों?

जैनेन्द्र—उस भेद का भी अवकाश है। चारों में मोह-राग के कारण भेद नहीं है। विवेक कृत है। आत्म-गुण के विस्तार में विवेक का तारतम्य टूटता नहीं है, सबकी समानता नहीं होती।

मुनिश्री—एक साधु ने वेश्या के घर चातुर्मास करने की आज्ञा मांगी। गुरु ने स्थूलिभद्र को वहां जाने की आज्ञा दी थी पर उसे नहीं दी। आज्ञा नहीं दी, उसके पीछे प्रेम ही था। भले आप उसे विवेक कह लें। वहां जाना उसके हित में नहीं था इसलिए उसे आज्ञा नहीं दी। मां चार वर्ष के बच्चे को चाबी नहीं देती, बड़ों को दे देती है। वहां प्रेम की कमी नहीं, विवेक है। प्रेम में अन्तर नहीं होता, फिर भी व्यवहार में भेद बुद्धि-कृत

आता है। सामने वाले के बुरे व्यवहार के कारण प्रेम मे अन्तर नही आएगा। विवेक मे अन्तर इतना-सा आएगा कि उसे ऐसा काम नही सौंपे जिसमे उसकी हानि हो। विवेक पर-सापक्ष है, प्रेम पर-सापेक्ष नही है।

कम की मर्यादा भिन्न-भिन्न है। एक दरिद्र को देख धनी के मन म, महावीर के मन मे और एक विचारक के मन मे भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। धनी उसे दस रुपये दे सकता है, महावीर कुछ नही दे सकते।

मोहन—सामने जैसी वस्तु हो, वैसी ही मन स्थिति बन जाती होगी?

मुनिश्री—सामने अच्छा आदश है और अपना विचार अपवित्र है तो पवित्रता फलित नही होगी। मूर्ति के प्रति श्रद्धा न हो तो अनुराग प्राप्त नही होगा। मूर्ति अपने आप मे न प्रेम बाटती है और न घृणा। हर निमित्त की यही स्थिति है।

जैनेन्द्र—प्रेम मे विवेक का स्थान नही है क्या?

मुनिश्री—विवेक से व्यवहार फलित होता है, प्रेम तो अखण्ड होना चाहिए। कोई मेरे साथ पाच प्रतिशत व्यवहार ठीक करता है और कोई दस प्रतिशत। प्रेम भी उसी अनुपात से हो तो वह खण्डित हो जाएगा।

जैनेन्द्र—पर-सापेक्षता प्रेम के लिए सगत है।

मुनिश्री—विस्तार की प्रक्रिया क्या हो, यह सहजही प्रश्न हो सकता है। विस्तार का पहला सूत्र है—विचार की स्पष्टता या सम्यक् दर्शन। दूसरा सूत्र है—सकल्प का उपभोग। सकल्प की भाषा निश्चित और समय दीघ होना चाहिए। उतना दीघ कि उसे दोहराते-दोहराते उसमे तन्मयता आ जाए। भाषा का आकार एक होने से उत्तरोत्तर स्पष्टता आती है। आज कुछ, कल कुछ, परसो कुछ, इस प्रकार भाव-भाषा भिन्न होने से धारणा भिन्न-भिन्न बनेगी। हमारी पहचान निश्चित आकार से ही होती है। एक आकार होने से धारणा मे दृढता आती है। भाषा, भाव, स्थान और समय की निश्चितता अवश्य प्रभाव लाती है।

जैनेन्द्र—सकल्प मे कर्तृत्व सहायक नही, बाधक बनता है। 'मैं प्रेम

का हू', 'मैं प्रेम का हू'—इसमे महत्त्व प्रेम को मिलेगा। 'मेरा प्रेम बढ रहा है' इसमे जो कर्तृत्व है, वह अन्त मे बाधक बन जाएगा। कर्तृत्व अपने पास न रहे तो क्षमता का विस्तार हो सकता है। भजन मे प्रणिपात की भावना मे तृप्ति मिलती है। वही सब है, मैं शून्य हो जाऊ। इसमे आत्म-गुणता, तत्समता का रास्ता सरल हो जाता है। मैं सब बनने म हाथ फैलाता हू।

मुनिश्री—ध्यान की प्रक्रिया यही है। एक ध्येय है। मैं अपने आप मे इतना शून्य हो जाऊ कि वह मुझमे समाविष्ट हो जाए। ध्येय-आविष्ट का अर्थ है—ध्यान। आचार्य रामसेन ने इस शून्यीकरण को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होने लिखा है—

> यदा ध्यानबलाद् ध्याता, शून्यीकृत्य स्वविग्रहम्।
> ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्, तादृक् सपद्यते स्वयम्॥

ध्याता ध्यान के बल से अपने शरीर को शून्य कर लेता है। तब वह ध्येय स्वरूप मे आविष्ट होकर वैसा ही बन जाता है।

प्रेम के विस्तार का भी यही सूत्र है। चैतन्य के प्रति इतना प्रेम हो कि शरीर और मन अन्य भावो से शून्य होकर प्रेममय बन जाए।

३ ममत्व का विसर्जन या विस्तार

ममत्व के विसर्जन से ममत्व का विस्तार हो जाता है और ममत्व के विस्तार मे ममत्व-विसर्जित हो जाता है। इन दोनो मे शब्द-भेद होने पर भी अर्थ-भेद नही है। अहकार और ममकार, ये दो मोह-व्यूह के सेनापति है। मोह की युद्धकालीन रचना बडी अभेद्य होती है।

ममकार का अर्थ है—अनात्मीय मे आत्मीयता का आरोपण। मेरा घर, मेरा परिवार, मेरा शरीर आदि-आदि। सबसे निकट शरीर है। शरीर से लेकर बाह्य-वस्तुओ को अपना मानना ममकार है। म अशान्ति का हेतु है। जिसके प्रति ममत्व हो, उसके योग मे हर्ष और

मे कष्ट होता है। अपना लडका कहना नही मानता तो अधिक कष्ट की अनुभूति होती है। दूसरे का लडका यदि कहना न माने तो उतना कष्ट नहीं होता, क्योकि वह पराया है। ममत्व की रेखा ही व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेद डालती है।

ममत्व के बाद उसके विसर्जन की बात आती है। यह मेरा नही है, इतना कहने मात्र से ममत्व से मुक्ति नही मिलती। हमने अमुक-अमुक को अपना मान रखा है। फलस्वरूप जो मेरा है, उसके प्रति अनुराग और जो मेरा नही है, उसके प्रति द्वेष हो जाता है। मेरे की सुरक्षा के लिए मेरे से भिन्न को धोखा देने मे सकोच नही होता। यह मेरा है, यह मेरा नही, इस भेद-बुद्धि के पीछे अन्याय और शोषण पल रहा है। विसर्जन की प्रक्रिया ही विस्तार की प्रक्रिया है। अमुक के प्रति मेरापन है, उसे निकाल दो और सबको मेरा मान लो। ममत्व की सकुचित सीमा मे अपना और पराया—यह द्वैध रहता है। इसलिए वहा अपना लाभ और दूसरे की हानि—इस स्थिति को अवकाश है। ममत्व की मर्यादा विस्तृत होने पर स्व-पर का द्वैध नही रहता। इसलिए वहा किसी के लाभ और हानि की स्थिति प्राप्त ही नही होती।

अकिंचन्य का अर्थ है—कुछ नही। मेरा कुछ नही, यानी सब कुछ मेरा है। आचार्यश्री से एक भाई ने पूछा—आपका हेडक्वाटर कहा है? आचार्यश्री ने उत्तर दिया—कही नही है। कही नही यानी सर्वत्र। जहा जाते हैं, वही हेडक्वाटर बन जाता है। वह एक स्थान पर होता तो वही होता, सर्वत्र नही होता। जिस दिन यह अनुभूति होगी, कि मेरा कुछ नही है, उस दिन तीन लोक की सम्पदा अपनी हो जाती है। कहा भी है—

अकिंचनोहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपति भवे।
योगिगम्यमिद प्रोक्त, रहस्य परमात्मन ॥

अब व्यवहार की भूमिका पर आइए। साम्यवाद ममत्व-विसर्जन की प्रक्रिया है। सिद्धान्तत साम्यवाद बुरा नही है। जिस पद्धति से आज वह क्रियान्वित हो रहा है, उसे मैं अच्छा नही मानता। साम्यवादी शासन मे

लड़का जन्मता है, तब से वह राष्ट्र की सम्पत्ति है। धन और मकान भी अपने नहीं है। शरीर पर भी अपना अधिकार नहीं है। यह शासन की प्रक्रिया है। इसमें हृदय का सम्बन्ध नहीं होता, बलाभियोग होता है। ममत्व-विसर्जन की प्रक्रिया धार्मिक हो या वह हार्दिक हो सकती है। धर्म का मूलमंत्र है—भेद-विज्ञान।

भेद-विज्ञान यानी शरीर और आत्मा के पृथक् अस्तित्व का स्वीकार। यही सम्यक्-दर्शन है। सांख्य-दर्शन में इसे विवेकख्याति कहा गया है। देह में आत्मीय बुद्धि हो तो विशाल ज्ञान होने पर भी सम्यक्-दर्शन प्राप्त नहीं होता। भारतीय धर्म ममकार-विसर्जन पर बल देते रहे हैं। जब उसे प्रायोगिक रूप देने की आवश्यकता है, उसमें भाव, भाषा और परिस्थिति—इन सारे चक्रवाल पर ध्यान केन्द्रित करना वांछनीय होगा। आप साधुओं की भाषा पर ध्यान दें। वे कहते हैं—यह वस्तु मेरी नेश्राय (आश्रय) में है। यह मेरा है—ऐसा कहने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है।

जैनेन्द्र—ट्रस्टीशिप के लिए यह 'निश्राय' शब्द चल सकता है। गांधीजी को इसके लिए उपयुक्त हिन्दी-शब्द नहीं मिल रहा था।

मुनिश्री—भिक्षु स्वामी और जयाचार्य ने साधु-संघ में ममत्व-विसर्जन को व्यावहारिक रूप दिया था। वह तेरापथ की बड़ी उपलब्धि है। चातुर्मास-समाप्ति के बाद साधु-साध्वियों के सिंघाड़े आचार्य-दर्शन को आते हैं। वे सबसे पहले इस शब्दावली का उच्चारण करते हैं—ये मेरे सहयोगी साधु या साध्वियां, पुस्तकें और मैं आपकी सेवा में समर्पित हैं, आप जहां चाहें वहां रहने को तैयार हैं। इस पूर्ण समर्पण के बाद ही वे भोजन और पानी लेते हैं।

ममत्व-विसर्जन की प्रक्रिया निष्पन्न होने पर शान्ति का उदय या आत्मोदय होता है। लोग दूध को गर्म करते हैं, जमाते हैं, बिलौना करते हैं, यह सब क्यों करते हैं? मक्खन के लिए। वैसे ही सारा प्रयत्न शान्ति के लिए है। सुख के लिए है, यह कहते-कहते मैं रुक जाता हूं। गीता में कहा है—अशान्तस्य कुतः सुखम्—अशान्त को सुख कहां? जितने शास्त्र

लिखे गए, वे सब शान्ति की उपलब्धि के लिए लिखे गए, ऐसा एक आचार्य का अभिमत है—

शमार्थ सर्वशास्त्राणि, विहितानी मनीषिभि ।
स एव सवशास्त्रज्ञ, यस्य शान्त सदा मन ।।

चन्दन का भार ढोनेवाला गधा केवल भार का भागी बनता है, सुगन्ध का नही। केवल शास्त्रो की दुहाई देनेवाला शास्त्रो का भार ढोता है, उनकी सुगन्ध का अनुभव नही पाता। सुगन्ध का अनुभव उसे होता है, जिसका मन शान्ति से पुलक उठता है।

पाच-छह वर्ष पहले एक भाई मेरे पास आया। उसने पूछा—आप गुरु किसे मानते हैं ? मैंने कहा—अपने आपको। दूसरे को कौन मानता है ? क्या आप आचाय तुलसी को गुरु नही मानते ? आचार्य तुलसी को इसी-लिए मानता हू कि उनका अहम् मेरे अहम से मुझे भिन्न प्रतीत नही होता। जहा अहम् का तादात्म्य होता है वही गुरु और शिष्य का एकत्व होता है। कबीर ने कहा है—

जब मैं था तब गुरु नही, अब गुरु हैं मैं नाहि।
प्रेम गली अति साकरी, तामे दो न समाहि।।

जब अहम् था तब गुरु नही थे। अब गुरु हैं, अहम् नही है। ममत्व-विस्तार मे सारा विश्व अपना हो जाता है। वहा दूसरे की बुराई के लिए अवकाश नही रहता। प्रेम की सघनता इतनी है कि कही शून्यता नही है तो दूसरी बात कहा से आएगी ? ममत्व का इतना विस्तार होने पर सीमित ममत्व स्वय विसर्जित हो जाता है। ममत्व का विस्तार हकारात्मक है और ममत्व-विसर्जन नकारात्मक है। तात्पर्यार्थ मे दोनो एक हैं। पहले सम्यक-दशन होता है, फिर उसमे श्रद्धा उत्पन्न होती है। जिसमे श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमे चित्त लीन हो जाता है—

यत्रैवाहितधी पुस, श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्त तत्रैव लीयते।।

ममत्व-विसर्जन की बात अच्छी है, यह प्रथम परिचय है ऐसी स्पष्ट

अनुभूति होने पर श्रद्धा बनती है। ज्ञान तरल है उसका घनीभूत होना ही श्रद्धा है। पानी तरल है, बर्फ उसी का घनीभूत रूप है। दूध तरल है, खोया उसी का घनीभूत रूप है। वैसे ही ज्ञान पुष्ट होते-होते श्रद्धा बन जाता है।

जैनेन्द्र—ज्ञान बुद्धि से होता है और श्रद्धा अन्तर्मन से।

रामकुमार—यह श्रद्धा कैसे प्राप्त हो ?

मुनिश्री—दूध में खोया बनता है, यह जान लेने पर उसे गाढा बनाने के लिए समय लगाना होता है। वैसे ही ममत्व-विसर्जन की प्रक्रिया जान लेने के बाद उसके प्रयोग की आवश्यकता है।

मदन—ममत्व-विसर्जन से क्या सार्वजनिक जीवन में बाधा नहीं आती ?

मुनिश्री—व्यवहार में बाधा नहीं बल्कि वह अधिक स्वस्थ होगा। छूट जाने की स्थिति में बाधा आती है, किन्तु छोड़ देने की स्थिति में नहीं। आचार्यश्री के पास एक बार शरणार्थी आए और कहा—हमारा सब लुट गया। आचार्यश्री ने कहा—धन आपके पास नहीं है, हमारे पास भी नहीं है। मकान आपके पास नहीं है, हमारे पास भी नहीं है। परिवार आपके बिछुड़ गए, हम भी परिवार से दूर हैं। स्थिति दोनों की समान है पर अनुभूति में अन्तर है और वह इसलिए कि आपसे ये छूट गए हैं और हमने उन्हें छोड़ दिया है।

फूलकुमारी—परिवार से संलग्न रहते हुए ममत्व का विस्तार करें तो क्या व्यवहार में कटुता नहीं आती ?

जैनेन्द्र—(प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, प्रश्न को स्पष्ट करते हुए कहा)—एक परिवार का सदस्य है। वह अपने ममत्व का विस्तार करना चाहता है तो पहले वह सगे रिश्तेदारों से आगे कम रिश्तेदारों में अपना ममत्व बांटता है, फिर उससे आगे। इस प्रकार यदि वह क्रमिक और आंकिक विस्तार करता है तो परिवार में दिक्कत पैदा होती है। एक बार सवाल आया—व्यक्ति से विराट् बनना चाहिए। विराट् तो अनन्त है, वह कैसे होगा ? विराट् बनना नहीं है, अहं शून्य हो जाए तो फिर उसकी सीमा कहां रह

गई ? अनन्त तव विराट् हो जाएगा ।

एक गिलास दूध मे एक चम्मच शक्कर डालने से वह सारे गिलास मे फैलेगी । उसके आठवे भाग मे नही । विस्तार की प्रक्रिया आकिक व पारिमाणिक नही, गुणात्मक है । पचास हजार रुपए है । बीस आदमी सगे है और बीस आदमी परिवार के ह । जिसमे यह भाव आया कि ममत्व-विसर्जन करना है उसने अपना सग्रह कम कर लिया । वह सग्रह से सम्बन्ध-विच्छेद कर वैसा कर सकता है ।

मुनिश्री—ममत्व-विसर्जन यदि दानात्मक हो तो कटुता आ सकती है, किन्तु त्यागात्मक हो तो उसकी सभावना नही दिखाई देती । दान और त्याग मे बडा अन्तर है । दान मे अह बद्ध होता है जब कि त्याग मे वह मुक्त हो जाता है । ममत्व के साथ जुडे भय और चिन्ता निममत्व के साथ जुडकर अभय और निश्चितता मे बदल जाते है । यह मन की शान्ति का अमोघ सूत्र है ।

४ सहानुभूति

सहानुभूति मे तीन शब्द हैं—सह, अनु और भूति । भूति यानी होना—अस्तित्व । मैं हू, यह मेरा अस्तित्व है । मेरा व्यक्तित्व है । अध्यात्म मे वैयक्तिकता होती है, उसमे व्यक्ति केवल होता है । मैं हू, यह शुद्ध अस्तित्व है । 'मैं अमुक हू', यह सामाजिक अस्तित्व है । मैं विद्वान हू, धनी हू, धार्मिक हू, 'हू' के पहले विशेषण लगा कि व्यक्ति भूति से अनुभूति के जगत् मे आ गया । मैं कई बार सोचा करता था कि व्यक्ति और समाज को बाटने वाली रेखा क्या है ? अब मुझे सूझ रही है कि वह 'भूति' है । इससे इधर-व्यक्ति है और उधर समाज । जुडने पर 'भूति' का अर्थ होता है—किसी के पीछे होना । अनुभूति स्वतन्त्र नही होती । वह ऐन्द्रियिक हो या मानसिक, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता ।

हमारे सामाजिक जीवन की स्वतन्त्रता सापेक्ष होती है। इन्द्रिय और मानसिक जगत् परिपूर्ण निरपेक्ष नही हो सकता। स्वतन्त्रता की भिन्न-भिन्न मर्यादाए है। स्वतन्त्रता वहा होती है, जहा केवल क्रिया हो, प्रतिक्रिया के लिए अवकाश न हो। अनुभूति मे सारी प्रतिक्रियाए होती हैं। एक बच्चा मिट्टी का ढेला फेकता है। दूसरा वापिस ढेला फेंकता है, यह क्रिया की प्रतिक्रिया है। प्रश्न आता है कि पहले ने जो ढेला फेंका क्या वह क्रिया नही है ? नही, वह भी प्रतिक्रिया है। भृति के विना कही क्रिया नही होती। हर क्रिया सस्कार और स्मृति से परतन्त्र होती है। स्मृति से बाधित या प्रेरित कोई भी क्रिया स्वतन्त्र हो सकती है, ऐसा नही लगता। प्रतिक्रिया का अर्थ है—व्यक्तित्व का प्रतिवन्ध। सामाजिक जगत् मे क्रिया नही किन्तु प्रतिक्रिया होती है। अनुभूति सामाजिकता है। एक शब्द 'सह' और लगा, फिर तो वह शुद्ध सामाजिकता हो गई। जैसे—सह-शिक्षा, सह-चिन्तन, सह-भोजन आदि-आदि। सहानुभूति सामाजिकता का वडा गुण है। जहा अनुभूति 'सह' नही होती, वहा स्वार्थ को विकसित होने का अवसर मिलता है। एक व्यक्ति शोषण इसलिए करता है कि उसमे सहानुभूति नही है। यदि सहानुभूति हो तो वह शोषण नही कर सकता। अपने समान दूसरे के अस्तित्व का अनुभव करे, वह शोषण व अन्याय कभी नही कर सकता। क्रूरता का विकास हुआ और हो रहा है, वह सहानुभूति की निरपेक्षता मे होता है। सहानुभूति की स्थिति जीवन मे हो तो क्रूरता नही पनप सकती। अपनेपन की तीव्रता मे क्रूरता विकसित होती है, अहिंसा या दया की बातें क्षीण हो जाती हैं। स्वार्थ का पोषण सहानुभूति के अभाव मे होता है। सघर्ष, द्वन्द्व आदि सहानुभूति के अभाव मे ही फलते है। सामाजिकता का स्वीकार और सहानुभूति का तिरस्कार—इन दोनों मे परस्पर विरोध है।

शुद्धोपयोग सामाजिक जीवन मे भी वैयक्तिकता की स्थिति है। उसमे केवल होने से आगे—अपने अस्तित्व के सिवाय—कुछ नही है। यह मानसिक क्लेशो से मुक्त होने की प्रक्रिया है। साम्ययोग, चित्त, निरोध, ध्यान या शुद्धोपयोग वह स्थिति है, जहा चेतना के व्यापार मे बाह्य विषय की

सलग्नता नही होती। मानसिक क्लेश शुद्धोपयोग के साथ बाह्य योग होने से होता है। 'मैं सुखी हू' यह शुद्धोपयोग नहीं है। मेरे साथ सुख का भाव जुडकर मेरे अस्तित्व को गौण बना देता है। सुख बाह्य प्रतीति-सापेक्ष है, वह स्वाभाविक नही है। मैं दुखी हू, यह क्लेश की अनुभूति है। सुखानुभूति, दुखानुभूति, क्लेशानुभूति—इन सारी अनुभूतियों से अलग सहज आनन्द की स्थिति है, वह शुद्धोपयोग है।

यदि हम शुद्धोपयोग की भूमिका मे होते तो सहानुभूतिकी आवश्यकता नही होती। मेरी अनुभूति का दूसरे के साथ तारतम्य नही होता। किन्तु हम लोग अनुभूति की भूमिका पर जी रहे है, इसलिए सम्पर्क-सूत्रो से मुक्त नही होते। भले फिर वे साधु हो, तपस्वी हो या व्यापारी हो, भले फिर वे प्रवृत्ति मे सलग्न हो या निवृत्त—सामाजिकता का प्रश्न उनसे विच्छिन्न नही होता।

जब तक हम शरीर, मन और वाणी से सपृक्त हैं, तब तक हमारा सहानुभूति की भूमिका से अलग होना सम्भव नही है। सहानुभूति की मर्यादा यह है कि हम अपनी बाह्य स्वतन्त्रता का उपयोग दूसरो की स्वतन्त्रता के सदर्भ मे करें।

यदि हम दादा धर्माधिकारी को अतिथि मानेंगे तो उनकी स्वतन्त्रता बाधित होगी, हम पर भी भार होगा। हम भी मनुष्य हैं। ये भी मनुष्य है। मनुष्य-मनुष्य का सीधा सम्बन्ध है। न हम इनके तन्त्र से बाधित हैं और न ये हमारे तन्त्र से बाधित हैं। मुक्तता के लिए मनुष्य का केवल मनुष्य होना आवश्यक है। मनुष्य का मनुष्य के नाते मनुष्य से सीधा सम्बन्ध होना चाहिए।

आज का सम्बन्ध ऐसा नही है। किसी का धनी के नाते सम्बन्ध है। एक को धन की आवश्यकता है और एक के पास धन देने की क्षमता है। यह दाता और आदाता का सम्बन्ध है। इसी प्रकार मालिक और नौकर, सरक्षक और सरक्षिता आदि-आदि अनेक सम्बन्ध हैं।

जितने भी ऐसे सम्बन्ध हैं, वे मानवीय आधार पर नही हैं, योगज हैं।

हमारे शब्द-जगत् की निष्पत्ति अधिक यौगिक है। शुद्ध शब्द कम है। शब्द तीन प्रकार के हैं—रूढ, यौगिक और मिश्र। रूढ शब्द कम हैं। अधिकाश यौगिक और मिश्र हैं।

सामाजिक चेतना म परम्परता का भाव है, उससे मुक्त होकर कोई जी नही सकता। किसी व्यक्ति को मोटर, रेडियो आदि आधुनिक सुख-सुविधा प्राप्त हो लेकिन पिता की सहानुभूति प्राप्त न हो तो पुत्र को कारा की सी अनुभूति होगी। हर व्यक्ति प्रेम चाहता है। उसका अभाव हो तो कभी-कभी व्यक्ति जीवन से ऊब उठता है। सामाजिक स्तर पर जीने वालो के लिए सहानुभूति का सूत्र आवश्यक लगता है। वीतरागता बहुत अच्छी है, किन्तु उसका कृत्रिम-प्रदर्शन—अपने स्वार्थ का उत्कर्ष—अच्छा नही है। 'मैंने पीया, मेरा बैल पीया, कुआ चाहे ढह पडे'—क्या यह वीतरागता है? केवल अपने स्वार्थ का पोषण है। स्वार्थ मे दूसरो के लिए चिन्ता का अवकाश नही रहता। वीतरागता म 'भूति' की क्रिया इतनी प्रबल हो जाती है कि वहा अनुभूति को अवकाश नही रहता। समस्या वहा है, जहा अनुभूति हो और 'सह' का अवकाश न हो।

दो व्यक्ति सह-भोजन करते हैं। एक के खाने से दूसरे का पेट नही भरेगा। पेट खाने वालो का ही भरेगा। जितनी मात्रा मे खाएगा, उतना ही पेट भरेगा। इस वैयक्तिक मर्यादा को स्वीकार करने पर भी सह-भोजन की मर्यादा को अस्वीकार नही किया जा सकता। सह भोजन मे मन को तोष मिलता है। खाने की तृप्ति और मन तृप्ति 'सह' के कारण हुई है। जहा भी 'सह' की स्थिति आती है, समस्याएँ सुलझ जाती हैं। छोटे सोचते हैं, बडे लोग हमारे साथ नही। छोटी उम्र वाले सोचते हैं, बडी उम्र वाले हमारे साथ नही हैं। साथ रहते ह, फिर भी साथ नही हैं। यह अलगाव की अनुभूति सामाजिकता का प्रश्नचिह्न है। इसका समाधान होने पर ही सामाजिक सौन्दर्य सम्भव है।

सङ्गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥

यह वैदिक मन्त्र मुझे बहुत आकर्षक लगता है। जैन-सूत्रो में साधारण शरीरी जीव का उल्लेख मिलता है। साधारणशरीरी जीव यानी एक शरीर में अनन्त जीव। वे एक साथ जन्मते हैं, साथ में खाते हैं, साथ में सास लेते हैं, साथ में सुख दुख की अनुभूति होती है और एक साथ मरते है। ऐसी साधारणता यदि मनुष्य में आ जाए तो विश्व का स्थित्यन्तर हो जाए। इस सभावना के निचले स्तर पर भी 'अमुक काम करने से दूसरो को क्लेश होगा'—इस अनुभूति का तार साधारण हो जाए तो समाज में क्रूर-व्यवहार नही हो सकता।

जब तक यह स्थिति नही बनती है तब तक मानसिक अशान्ति के अनेक हेतु उपस्थित हो जाते हैं। बहुत बार हम एकागी हो जाते है। कभी हेतु पर अटक जाते हैं, कभी उपादान तक चले जाते हैं। केवल हेतु और केवल उपादान की मर्यादा अपने आप में पूर्ण नही है। दोनो का योग होने से क्रिया निष्पन्न होती है। हेतु है, उपादान नही है तो कोई क्रिया निष्पन्न नही होगी। उपादन है, हेतु नही है तो भी कोई क्रिया निष्पन्न नही होगी।

प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धान्त है कि रोग का उपादान—विजातीय तत्त्व विद्यमान है तो बाहर से निमित्त मिलते ही रोग उभर आता है। विजातीय तत्त्व नही हैं तो बाह्य निमित्त मिलने पर भी रोग नही होता। रोग के उभरने में उपादान और हेतु का योग होता है।

अहिंसा या दया का भाव हर व्यक्ति में है और घृणा का भाव भी हर व्यक्ति में होता है। निमित्त मिलने पर वे उभर आते हैं।

आज अणुव्रत के मच से धर्म के प्रायोगिक स्वरूप या अहिंसक समाज-रचना की बात सोची जा रही है। इस सन्दर्भ में, मैं कहना चाहता हू कि स्वार्थ की प्रबलता से जो चैतसिक मूर्च्छा आ गई है, उसे मिटाए बिना यानी सहानुभूति का विस्तार किए बिना शान्ति के द्वार खुल नही पाएगे।

५ सहिष्णुता

सहिष्णुता का अर्थ है—सहन करना। इसका दूसरा अर्थ है—शक्ति। दोनो अर्थों के योग मे ही सहिष्णुता मनुष्य के लिए उपयोगी बनती है। शक्ति-शून्य सहिष्णुता परवशता हो सकती है, अपनी स्वतन्त्र चेतना की स्फूर्ति नही। जहा शक्ति के साथ सहिष्णुता होती है वहा मानवीय स्पर्श होता है। उसमे न अहभाव होता है और न हीनभाव। अहभाव और हीन-भाव विषमता है। इससे मानवीय अन्त करण का स्पर्श नही होता। स्पर्श समता मे है। प्रकृति का वैषम्य मानवीय सम्बन्धो को विच्छिन्न करता है। एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध तभी हो सकता है, जबकि दोनो ओर से साम्य हो, न हीनभाव हो और न अहभाव हो। अध्यात्मयोग और क्या है? यह साम्य ही तो अध्यात्मयोग है। आचार्य सोमदेव सूरी ने आत्मा, मन, मरुत् और तत्त्व के समतापूर्ण सम्बन्ध को ही अध्यात्मयोग माना है—'आत्म-मनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणोह्यध्यात्मयोग'।

सहिष्णुता अपेक्षित क्यो है?

जितने मनुष्य है, वे रुचि, विचार, संस्कार व कार्य की दृष्टि से सम नही हैं। वे बाह्य आकार से एक-सम न हो तो कोई कठिनाई नही। पर रुचि आदि सम नही हो तो उससे कठिनाई पैदा होती है। उस कठिनाई का निवारण सहिष्णुता के द्वारा ही किया जा सकता है। असहिष्णुता आते ही स्थिति गडबडा जाती है। एक बार हाथ, जीभ, दात, पैर आदि एकत्र हुए। सबने निर्णय किया कि हम सब काम करते है पर पेट कुछ नही करता। जो हमारे साथ श्रम न करे, योग न दे, उसका हमे सहयोग नही करना चाहिए। सबने हडताल कर दी। एक दिन बीता, दो दिन बीते। हाथो मे सनसनी छा गई, जीभ का स्वाद बिगड गया, मुह थूक से भर गया। दातो मे मैल जम गया, बदबू आने लगी। तीसरे दिन सब मिले और हडताल समाप्त कर दी।

हर व्यक्ति मे रुचि का भेद होता है। शिविर मे चालीस-पचास व्यक्ति

हैं। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि यदि भिन्न हो तो उसके अनुसार पचास प्रकार के साग चाहिए। ऐसा सम्भव नहीं। इस असंभवता को मिटाने के लिए रुचि का सामजस्य आवश्यक होता है। यह रुचि का सामजस्य ही सहिष्णुता है। इसके अभाव मे योग नहीं, वियोग की स्थिति हो जाती है।

संघीय शक्ति के निर्माण व सुरक्षा के लिए सहिष्णुता अत्यन्त अपेक्षित है। जो प्रमुख हो उसके लिए और अधिक। श्रीकृष्ण गणतन्त्र के प्रमुख थे। अक्रूर और भोजवंशी नरेश विरोधी दल के नेता थे। वे भी कृष्ण पर तीव्र प्रहार करते थे। एक दिन कृष्ण उनकी आलोचना से खिन्न हो गए थे। इतने मे नारदजी आ गए। पूछा—'उदास क्यो है ?' कृष्ण ने उत्तर दिया—'इनसे मैं तग आ गया हू। कोई मार्ग बताइये, अब क्या करू ?' नारद ने कहा—'दो आपदाए होती हैं—बाह्य और आन्तरिक। आपके सामने आन्तरिक आपदा है। बाह्य आपदा को व्यक्ति शस्त्र से दूर कर सकता है। आन्तरिक आपदा मे शस्त्र काम नही देता।' 'तो फिर क्या किया जाए ?' तब नारद ने अनायस शस्त्र से उनकी जीभ बन्द करने की सलाह दी—

'अनायसेन शस्त्रेन, मृदुना हृदयच्छिदा।
जीह्वा मुद्धर सर्वेषा, परिमृज्यानुमृज्य च।"

शस्त्र एक ही प्रकार का नहीं होता। बादशाह ने बीरबल से पूछा—'शस्त्र क्या है ?' बीरबल ने उत्तर दिया—'अवसर।' बादशाह ने कहा—'क्या कह रहे हो ? तलवार, भाला, तोप—ये तो शस्त्र हो सकते हैं पर अवसर कैसे ?' बीरबल ने कहा—'कभी प्रमाणित करूगा।' एक दिन बादशाह की सवारी निकल रही थी। हाथी उन्मत्त हो दौडने लगा। बीरबल ने आगे बढ चारो तरफ देखा, एक कुत्ते के सिवाय कुछ नही था। तत्काल उसने कुत्ते की टाग पकडकर घुमाया और हाथी पर दे मारा। हाथी वापिस मुड गया। कुत्ता क्या शस्त्र है ? पर अवसर था, कुत्ता शस्त्र बन गया। शास्त्र भी कभी-कभी शस्त्र बन जाते हैं। शास्त्र और शस्त्र मे केवल एक मात्रा का भेद है।

हैं। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि यदि भिन्न हो तो उसके अनुसार पचास प्रकार के साग चाहिए। ऐसा सम्भव नहीं। इस असंभवता को मिटाने के लिए रुचि का सामंजस्य आवश्यक होता है। यह रुचि का सामंजस्य ही सहिष्णुता है। इसके अभाव में योग नहीं, वियोग की स्थिति हो जाती है।

संघीय शक्ति के निर्माण व सुरक्षा के लिए सहिष्णुता अत्यन्त अपेक्षित है। जो प्रमुख हो उसके लिए और अधिक। श्रीकृष्ण गणतंत्र के प्रमुख थे। अक्रूर और भोजवंशी नरेश विरोधी दल के नेता थे। वे भी कृष्ण पर तीव्र प्रहार करते थे। एक दिन कृष्ण उनकी आलोचना से खिन्न हो गए थे। इतने में नारदजी आ गए। पूछा—'उदास क्यों है?' कृष्ण ने उत्तर दिया—'इनसे मैं तंग आ गया हूं। कोई मार्ग बताइये, अब क्या करूं?' नारद ने कहा—'दो आपदाएं होती हैं—बाह्य और आन्तरिक। आपके सामने आन्तरिक आपदा है। बाह्य आपदा को व्यक्ति शस्त्र से दूर कर सकता है। आन्तरिक आपदा में शस्त्र काम नहीं देता।' 'तो फिर क्या किया जाए?' तब नारद ने अनायस शस्त्र से उनकी जीभ बन्द करने की सलाह दी—

'अनायसेन शस्त्रेन, मृदुना हृदयच्छिदा।
जीह्वा मुद्धर सर्वेषा, परिमृज्यानुमृज्य च।"

शस्त्र एक ही प्रकार का नहीं होता। बादशाह ने बीरबल से पूछा—'शस्त्र क्या है?' बीरबल ने उत्तर दिया—'अवसर।' बादशाह ने कहा—'क्या कह रहे हो? तलवार, भाला, तोप—ये तो शस्त्र हो सकते हैं पर अवसर कैसे?' बीरबल ने कहा—'कभी प्रमाणित करूंगा।' एक दिन बादशाह की सवारी निकल रही थी। हाथी उन्मत्त हो दौड़ने लगा। बीरबल ने आगे बढ़ चारों तरफ देखा, एक कुत्ते के सिवाय कुछ नहीं था। तत्काल उसने कुत्ते की टांग पकड़कर घुमाया और हाथी पर दे मारा। हाथी वापिस मुड़ गया। कुत्ता क्या शस्त्र है? पर अवसर था, कुत्ता शस्त्र बन गया। शास्त्र भी कभी-कभी शस्त्र बन जाते हैं। शास्त्र और शस्त्र में केवल एक मात्रा का भेद है।

शब्दो की चर्चा और शास्त्रो के प्रमाण से मनुष्य जितना पथमूढ बनता है, उतना शस्त्र से भी नही बनता। कभी-कभी प्रयोग मे शास्त्र भी शस्त्र जैसा बन जाता है।

कृष्ण ने पूछा—'अनायस शस्त्र क्या है ?' इस पर नारद ने कहा—

"शक्त्यान्नदान सतत, तितिक्षाजव मार्दव ।
यथार्हप्रतिपूजा च, शस्त्रमेतदनायसम् ॥"

'विरोधियो को जितना दे सकें, अन्न दें। तितिक्षा रखें—उनके शब्द सुन तत्काल आवेश मे न आए। ऋजुता का व्यवहार करें। मृदुता रखें। बडो का सम्मान करें। यह अनायस शस्त्र है, बिना लोहे का शस्त्र है।'

नारद ने कहा—'इस शस्त्र से आप उनको वश मे कर सकते है।'

कृष्ण—'क्या मैं कमजोर हू ? क्या मुझमे शक्ति नही है, जो उनकी बातो को सहन करू ?'

गाली देने वाला प्रतिक्रिया मे गाली इसीलिए देता है, 'कि क्या मैं कमजोर हू ?' तत्काल अहभाव उभर आता है। व्यक्ति प्रतिक्रिया मे लग जाता है। नारद ने कहा—जो महान् होता है वही सहन कर सकता है—

नाऽमहापुरुष कश्चित्, नाऽनात्मा नाऽसहायवान् ।
महती धुरमाधत्ते, नामुद्यम्योरसावह ॥

धुरा आपको चलाना है। जो महान् नही, वह सहन नही कर सकता। जो आत्मवान् नही, वह सहन नही कर सकता। जो सहाय-सम्पन्न नही, वह सहन नही कर सकता। क्या आप महान्, आत्मवान् और सहाय-सम्पन्न नही हैं ? कमजोर व्यक्ति कभी सहिष्णु नही बन सकता। सहिष्णु वही बन सकता है, जो शक्तिशाली होता है। वहा पीछे पर्दा है। पर्दे का होना और धूप का न आना—दोनो जुडे हुए है, वैसे ही शक्ति का होना और क्रोध का न होना, दोनो जुडे हुए है।

मानसिक शान्ति के लिए सहिष्णुता आवश्यक है। यह प्रमोद-भावना का बडा अग है। गुणी के गुणो को देख मन मे प्रसन्न होना, ईर्ष्या न करना प्रमोद-भावना है। जहा सहिष्णुता होगी वहा प्रमोद भावना का विका

होगा।

एक करोडपति परिवार था, सब तरह से सम्पन्न। उनमे एक व्यक्ति प्रमुख रूप से काम देखता था, शेष उसके सहयोगी थे। उनके दिल मे एक विचार आया। यह तो केवल आज्ञा चलाता है। व्यापार हम करते हैं, पूछ इसकी होती है। असहिष्णुता का भाव आया और सब अलग-अलग हो गए। परिणाम यह हुआ कि जो प्रमुख था, वह कुशल था, इसलिए उसने कुशलता से अपना काम जमा लिया। शेष कठिनाई मे पड गए।

दूसरो को नीचा दिखाने का भाव भी असहिष्णुता मे आता है। एक सेठ के घर दो पडित आए। एक पडित कार्यवश इधर-उधर गया। सेठ ने दूसरे से पहले का परिचय पूछा। उसने कहा—'मेरा अधिक सम्पर्क नही है, अभी साथ हुए थे। लगता है यह तो बना-बनाया बैल है।' पहला पडित आया तो दूसरा किसी कार्यवश बाहर गया। उससे दूसरे पडित का परिचय पूछा गया तो उत्तर मिला—'यह तो पडित क्या है, गधा है।' सेठ ने भोजन के समय एक के सामने चारा और एक के सामने भूसा रख दिया। पडितो ने अपना अपमान समझा। सेठ ने कहा—मुझे तो यही परिचय मिला था।' दोनो पडितो के सिर झुक गए।

किसी भी क्षेत्र मे चले जाइए। एक कलाकार दूसरे कलाकार की, एक साहित्यकार दूसरे साहित्यकार की, एक धार्मिक दूसरे धार्मिक की प्रगति को सहन न करे, उसकी प्रशसा न करे तो क्या कला, साहित्य और धर्म का उत्कर्ष हो सकता है? लोग चाहते हैं समाज सुखी हो, सर्वत्र शान्ति हो। सुख-शाति क्यो नही है? इस प्रश्न पर विचार करते समय सीधा ध्यान अर्थ-तत्र और राजतत्र की अव्यवस्था पर जाता है। यह सत्य है, कि बाह्य-व्यवस्था का असर होता है। पर व्यक्ति के अपने स्वभाव का असर होता है, उस ओर ध्यान नहीं जाता। यह बाह्य के प्रति जागरुकता और अध्यात्म के साथ आखमिचौनी है। लोग सोचते हैं, अध्यात्म से क्या? उससे न रोटी मिलती है, न कपडा और न मकान। रोटी, कपडा और मकान जिसके लिए है, वह मनुष्य है। उसका निर्माण अध्यात्म से होता है। जिसके लिए वस्तुए

हैं, उसका यदि निर्माण न हो तो रोटी, कपडे और मकान का क्या होगा ? पदार्थ का अपने आप मे मूल्य नही है, मूल्य है व्यक्ति का। चैतन्य मे आनन्द-उल्लास नही है और बाहर सब-कुछ प्राप्त है तो उस एक के अभाव मे सब व्यर्थ हो जाते हैं। शेष पर ध्यान न दे, यह मैं नही कहता। मैं यह कहता हू कि विशेष ध्यान मनुष्य पर दे। मनुष्य के मन को शान्त-सतुलित बनाने की प्रक्रिया न होगी तो वह प्राण-शून्य होगा। सारी अच्छाइयो और सारी बुराइयो का उत्स मन है। मन की क्षमता को बढाने के लिए सहिष्णुता का विकास आवश्यक है। मन की शक्ति का विकास सहिष्णुता का विकास है। मन की शान्ति का ह्रास सहिष्णुता का ह्रास है।

६ न्याय का विकास

न्याय क्या है ? एक नीति शब्द है, एक न्याय शब्द है। नीति का अर्थ है ले जाने वाली। नीति मार्ग है और न्याय लक्ष्य है। जहा पहुचना है, वह न्याय है। इसका शाब्दिक अर्थ है—वापस आना। पक्षी दिन मे उड जाते हैं और शाम को वापस घोसले मे आते हैं। सस्कृत शब्दानुशासन के न्यायो की बूढे की लाठी से तुलना की गई है—'न्याया स्थविर यष्टि प्राया।' आवश्यकतावश बूढा लाठी को टिकाता है, नही तो हाथ मे ले चलता है। सब जगह से उसे टिकाना अनिवार्य नही है। शायद हर न्याय की यही स्थिति है। समयानुसार न्याय के रूप भी बदलते रहे है। इतिहास बताता है सामन्तशाही युग मे दास को रखना न्याय था—राज्य-सम्मत था। दास का कार्य था मालिक की सेवा करना। स्वतन्त्र रहना उसके लिए अन्याय था। मालिक चाहते तो कान काट लेते, नाक काट लेते, और भी अगच्छेद कर देते, मौत का दण्ड भी दे देते थे। वैसा करना मालिक के लिए अन्याय नही था। उस युग मे एक व्यक्ति चाहे जितना धन रख सकता था। दूसरे के पास कुछ भी नही होता, फिर भी वह अन्याय नही माना जाता था। शक्ति

और धन का अनुबन्ध मान लिया गया था ।

धम के क्षेत्र मे न्याय का रूप था—पति के साथ पत्नी जीवित जल जाती थी । इसे धम का अनुमोदन मिलता था । इस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र मे न्याय के भिन्न-भिन्न रूप थे । आज उन न्यायो का रूप बदल चुका है । दास की तो कल्पना ही नही की जा सकती । नौकर के साथ भी क्रूर व्यवहार घृणित काय माना जाता है । सग्रह भी लगभग अन्याय की देहलीज पर आ खडा है । एक करोडपति है, दूसरा भूखा है, यह अन्याय मान लिया गया है ।

न्याय का आधार समता है। एक शब्द मे कहू तो विषमता अन्याय है । समता न्याय है । एकागी कोण अन्याय है, सर्वांग-दृष्टि न्याय है ।

समता यान्त्रिक नहीं होनी चाहिए । यान्त्रिक वस्तुए सम आकार-प्रकार की हो सकती हैं । मनुष्य मे यदि यान्त्रिक समता हो तो चैतन्य का मूल्य ही क्या ? मनुष्य के अस्तित्व का अर्थ ही है—यान्त्रिक समता से मुक्ति पाना । बाह्य आकार मे फलित होनेवाली समता मुझे कभी प्रभावित नहीं कर सकी । विविधता दु खद नही, सुखद होती है । दिल्ली मे एक ही प्रकार के पेड हो तो मन को नहीं भाते । पुराने जमाने मे राजा किसी को दण्ड देता था तो उसे एक ही रग के मकान मे रख देता था । परिणामत आख विकृत हो जाती। दूसरी चीजें देखने को न मिलने से आखो का प्रकाश कम हो जाता । मनुष्य विविधता चाहता है । नाना प्रकार की वस्तुए मन को लुभाती हैं । एक व्यक्ति की तरह सबका आकार और कद होता तो सौन्दय नही होता । किसी की पहचान का मौका नही मिलता । एक को देखने से सबका ज्ञान हो जाता, अलगाव जैसा कुछ होता ही नही । बाह्य वातावरण मे समता न फलित होनेवाली है और न वाछनीय ही है । व्यक्ति के अन्त करण मे समता होनी चाहिए, वर्ण-प्रकार भले ही भिन्न हो । अन्तर मे समता हो तो बाह्य विषमता दु खदायी नही होती । मन का द्वैध बाह्य मे फलित होने से कष्ट होता है । बिल्ली अपने दांतो से बच्चे को पकडती है और चूहे को पकडती है । दात एक ही हैं । दातो के पीछे मन की क्रिया

कष्ट की अनुभूति नही होती।

कानून बाहर से आता है। अध्यात्म अन्तःकरण से निकल बाहर को प्रभावित करता है। समस्या इसलिए उत्पन्न होती है कि अन्तःकरण पर ध्यान नही दिया जाता। अन्तःकरण मे विषमता का मनोभाव न हो तो खलता नही है। कुम्भकार की तरह चोट के पीछे परिवार और जगत् के प्रति सुरक्षा का भाव हो तो बाह्य विषमता कभी नही खलती।

सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण

अन्याय दूसरों के प्रति ही नही, अपने प्रति भी होता है। खाने मे क्या अपने साथ अन्याय नही किया जाता? दातों और आंतों के साथ अन्याय किया जाता है। चबाकर न खाने से दातों की शक्ति क्षीण होती है। पायरिया की बीमारी हो जाती है। बिना चबाए लार भीतर नही जाती। पचाने मे आंतों को कष्ट होता है। कई व्यक्ति चाय और दूध इतना गरम पीते हैं कि कटोरे को सडासी से पकडना होता है। जिसका स्पर्श हाथ नही कर सकते, उसे आतें कैसे सह सकेंगी! व्यक्ति जानता है, 'मेरा पेट ठीक नही है, मैं नही पचा सकता'—फिर भी स्वादवश खा लेता है। परिणाम भोगना पडता है। दूसरी इन्द्रियों के साथ भी बहुत बार न्याय नही किया जाता।

एकांगी दृष्टिकोण

कुछ लोग धर्म की ओर इतने झुकते हैं कि उन्हें धर्म से इधर-उधर कुछ नहीं दिखाई देता। कुछ लोग धन की ओर इतने झुकते हैं कि वे धन के लिए प्राणों की भी परवाह नही करते। कुछ लोग काम की ओर अधिक झुक जाते हैं। इस एकांगिता से मानसिक अशान्ति उत्पन्न होती है। प्राचीन समाजशास्त्रियों ने इस विषय पर मन्थन कर एक निष्कर्ष निकाला था कि धर्म, अर्थ और काम का परस्पर-विरोध भाव से सेवन करना चाहिए।

एक व्यक्ति गृहस्थ की भूमिका मे रहना चाहता है, बच्चे और परि-

याग होने पर ही परिवर्तन होता है। सूर्य की गरमी से धरती तप उठती है किन्तु आकाश नहीं तपता। जिसमें ताप-ग्रहण की क्षमता नहीं है, वह सूर्य की उपस्थिति में भी नहीं तपता। धरती में ताप-ग्रहण की क्षमता है पर वह सूर्य की अनुपस्थिति में नहीं तपती।

परिस्थिति केवल बाह्य वातावरण या परिवेश ही नहीं है। वह बाह्य और आन्तरिक दोनों वृत्तों के धागों से अनुस्यूत होती है। हर वस्तु का अपना स्वभाव होता है। अंगूर में जो मधुरता है, वह मिर्च में नहीं है और मिर्च में जो तिक्तता है, वह अंगूर में नहीं है। परिस्थिति के पट का एक तन्तु है, स्वभाव की मर्यादा।

बजरी का पाक चौमासे में होता है तो चना सर्दी में पकता है। चने की बुआई आषाढ़ में और बजरी की बुआई मिगसर में नहीं होती। परिस्थिति के पट का दूसरा हेतु है, काल की मर्यादा।

घर में बिजली है। उसमें प्रकाश देने की क्षमता भी है। किन्तु बटन दबाने को कोई हाथ नहीं उठता है तो बिजली के होने पर भी प्रकाश नहीं मिलता। परिस्थिति के पट का तीसरा तन्तु है, प्रवृत्ति या पुरुषार्थ की मर्यादा।

मनुष्य में प्रकाश का संस्कार संचित है, इसीलिए वह अंधकार में प्रकाश का संरक्षण चाहता है। संस्कार भावी उपलब्धि के दरवाजे को खटखटाता ही नहीं, खोल भी देता है। परिस्थिति के पट का चौथा तन्तु है संस्कार या भाग्य की मर्यादा।

यह विश्व कुछ सार्वभौम नियमों से बंधा हुआ है। उनका अतिक्रमण नहीं होता। विश्व का एक नियम है ध्रुवता। जो सत् है, वह ध्रुव है। इसी नियम के आधार पर विश्व था, है और होगा। विश्व का दूसरा नियम है परिवर्तनशीलता। जो सत् है, वह परिवर्तनशील है। इस नियम के आधार पर विश्व रूपान्तरित हुआ है, हो रहा है और होता रहेगा। परिवर्तन-शीलता विश्व का अपरिहार्य नियम है, इसीलिए कुछ बदलता है और कुछ बदलने का हेतु बनता है। परिस्थिति के पट का पांचवां तन्तु है, नियति

सार्वभौम नियम ।

वस्तु की अनेक क्षमताए उपयुक्त परिस्थिति (साधन-सामग्री) के अभाव मे व्यक्त नही हो पायी । सचित कर्म का भी साधन-सामग्री के विना पूरा परिपाक नही होता । शरीर की लम्बाई और चौडाई, रूप और रग भौगोलिक वातावरण से प्रभावित होते हैं । मानसिक उतार-चढाव वाह्य सम्पर्कों से प्रभावित होते हैं । विचार वाह्य दृश्यो और रगो से प्रभावित होते ह । कोई भी व्यक्ति परिस्थिति के प्रभाव से मुक्त नहीं होता, जो उसके प्रभाव-क्षेत्र मे होता है । ठडी हवा चलती है, आदमी काप उठता है । कम्पन निर्हेतुक नही है । कडी धूप होती है, पसीना चूने लग जाता है । पसीना निर्हेतुक नही है । मन के प्रतिकूल योग मिलता है, आदमी क्रुद्ध हो उठता है । अचिन्त्य सामग्री मिल जाती है, आदमी गर्वोन्मत्त हो जाता है । हर्ष और उल्लास, भय और शोक मे ये सभी आवेग परिस्थिति मे योग से अभिव्यक्त होते है । इनकी अभिव्यक्ति से मन का सतुलन विगडता है । फलत मन अशान्त हो उठता है ।

परिस्थिति के प्रभावक्षेत्र मे रहकर मन उससे अप्रभावित नही रह सकता । वह भावना से भावित होकर उसके प्रभाव-क्षेत्र के बाहर आ जाता है । फिर यह परिस्थिति के हाथ का खिलौना नही होता । अनित्य-भावना से प्रभावित मन सयोग-वियोग की ऊर्मियो से प्रताडित नही होता । अशरण-भावना से प्रभावित मन असहाय नही होता । एकत्व-भावना से प्रभावित मन सामाजिक जीवन के सघर्षो से व्यथित नही होता । मैत्री-भावना से प्रभावित मन आशका, कुशका, सन्देह, भय और द्वेप के चक्र से मुक्त हो जाता है । प्रमोद-भावना से प्रभावित मन ईर्ष्या से सत्रस्त नहीं होता । करुणा-भावना से प्रभावित मन से क्रूरता विसर्जित हो जाती है । मध्यस्थ-भावना से प्रभावित मन क्रोध और निराशा से वच जाता है ।

अनुकूलता का वियोग, प्रतिकूलता का सयोग, असहायता की अनुभूति, सघर्ष, सन्देह, भय, द्वेप, ईर्ष्या, क्रूरता, क्रोध और निराशा—ये सब मन मे असन्तुलन उत्पन्न करते हैं । असन्तुलित मन मे अशान्ति उत्पन्न होती है ।

वह सुख को लोल जाती है। भावना, शान्ति और सुख मे कार्य-कारण का सम्बन्ध है। गीता मे लिखा है—

'न चाभावयत शान्ति, अशान्तस्य कुत सुखम् ?'

भावना के बिना शान्ति नही होती, शान्ति के बिना सुख नही होता। भावना सस्कार-परिवतन की पद्धति है। ध्येय के अनुकूल बारम्बार मनन, चिन्तन और अभ्यास करने पर पूर्व-सस्कार का विलोप और नए सस्कार का निर्माण हो जाता है।

अशान्ति के हेतुभूत सस्कारो का विलयन किए बिना कोई भी व्यक्ति शान्ति का स्पर्श नही कर सकता। परिस्थिति सदा एकरूप नही रहती। कभी वह अनुकूल होती है और कभी प्रतिकूल हो जाती है। अनुकूलता मे जिसे हर्ष की तीव्र अनुभूति होती है, वह प्रतिकूलता मे शोक की तीव्र वेदना से बच नही सकता। अपनी चेतना और पुरुषार्थ को सत्य की अनुभूति मे प्रतिष्ठित करने वाला व्यक्ति परिस्थिति से आहत नही होता। असत्य का चुम्बकीय आकर्षण परिस्थिति के प्रभाव को अपनी ओर खीच लेता है। सत्य मे वह चुम्बकीय आकर्षण नही है, इसलिए परिस्थिति का प्रभाव उसकी ओर प्रवाहित नही होता। अग्नि से बहुत सारी वस्तुए जल जाती हैं पर अभाव नही जलता। परिस्थिति से वही मन जलता है, जो सत्य की भावना से प्रभावित नही है।

८ सर्वांगीण दृष्टिकोण

जीवन मे सबसे प्राथमिक मूल्य मानसिक शान्ति का है। मानसिक शान्ति के बारे मे समग्रता से किन्तु सहजता मे चिन्तन होना चाहिए। जो योजनाकृत होता है, वह बहुत अच्छा नही होता। जो सहज भाव से निकले, वह स्वाभाविक होता है। जो बुद्धिपूर्वक होता है, वह स्वाभाविक नही होता। वृक्ष अनित्य होता है क्योकि वह कृतक है। घट भी अनित्य है,

क्योकि वह कृतक है। आकाश नित्य है क्योकि वह अकृत है। कृत का मूल्य शाश्वत नही होता। सहज निष्पन्न अच्छा होता है।

मैंने मानसिक शान्ति के सोलह सूत्र निश्चित किए हैं। उनमे पूर्वापर-क्रम नही सोचा था। किन्तु अब लगता है कि उनमे क्रम है। शरीर और मन का गहरा सम्बन्ध है। इन्द्रिया के साथ भी मन का घनिष्ठ योग है। उन्हें साधना भी बहुत आवश्यक है। एक योगविद् ने कहा है—

'तत्त्वविज्ञानवैराग्यरुद्धचित्तस्य खानि मे।
न मृतानि न जीवन्ति न सुप्तानि न जाग्रति ॥'

हमारी इन्द्रिया साधना के द्वारा ऐसी हो जाए कि न वे मृत हो और न जाग्रत। मृत इसलिए नहीं कि उनमे विषय-ग्रहण की शक्ति है। जीवित इसलिए नहीं कि उस समय विषय-आसक्ति न रहे। सुप्त इसलिए नही कि विषय के अग्रहण मे निद्रा जैसी परवशता नही है। जागृत इसलिए नही कि वे विषयो की ओर व्यापृत नही होती।

इन्द्रिय और आत्मा के बीच मे मन है। मन बाहर जाता है, इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हो जाती हैं और वह भीतर जाता है, इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। मन पर बाह्य सघर्षो का प्रभाव होता है, इसलिए हमने उन पर भी विचार किया है।

मन को कौन प्रभावित नही करता ? यह सौर-जगत्, वनस्पति-जगत्, प्राणी-जगत्, परमाणु-जगत्—सभी मन को प्रभावित कर रहे हैं। योग के आचार्यो ने इस विषय पर विशद विवेचन किया है।

मन बाह्य आकर्षणो और विकर्षणो से जुडा है। अभी देख रहा हू, कही से कोई स्पर्श नहीं हो रहा है। किन्तु सच यह है कि असख्य परमाणु स्पृष्ट हो रहे हैं, आ रहे हैं, जा रहे हैं। एक अमेरिकन महिला डॉ० जे० सी० ट्रूष्ट ने अणु-आभा से फोटो लिए है। आणविक प्रभाव को देखते हुए यह कहना बहुत सरल नही है कि मैं स्वतत्र बुद्धि से सोच रहा हू। हर व्यक्ति बाह्य परिस्थिति और निमित्तो से बधा हुआ है। आज कोई भी शरीरधारी, जो इस जीवमण्डल और वायुमण्डल मे जी रहा है, सार्वभौम

स्वतन्त्र नहीं है। जो कोई विचार निष्पन्न होता है, वह अनेक वस्तुओं के योग से निष्पन्न होता है, इसलिए निरपेक्षता की बात करना नितान्त अज्ञान होगा।

हमारा दृष्टिकोण सापेक्ष होना चाहिए। हमारे एक विचार के पीछे अनेक अपेक्षाएं होती हैं। सापेक्षता से हमारी मानसिक शान्ति को बल मिलता है। एकांगी दृष्टिकोण से अशान्ति निष्पन्न होती है।

इन इक्कीस दिनों में आप लोगों ने मुझे, जैनेन्द्रजी और दादा धर्माधिकारी को सुना। कभी लगा कि हम लोग भिन्न-भिन्न बातें कर रहे हैं, कभी लगा कि निकट आ रहे हैं। कभी लगा कि विरोधी बातें कर रहे हैं और कभी लगा कि एक ही बात कर रहे हैं।

इस दुनिया में अनेक मार्ग हैं। आदमी भटक जाता है, किधर जाए? किसे सुने? और किसे माने? निर्णय नहीं कर पाता। एक की बात सुनता है तो वह ठीक लगती है। दूसरे का तर्क आने पर वह ठीक नहीं लगती। इस शब्द के जगत् में न जाने कितने तर्कों और वादों का जाल बिछा है।

आप महाभारत को पढ़िए। कहीं आपको काल की अनन्त महिमा मिलेगी। लिखा है—काल से सारी बातें निष्पन्न होती हैं। समय पर सूर्य उदय होता है, समय पर वृक्ष फलते-फूलते हैं, समय पर वर्षा होती है और समय पर आदमी जन्मता-मरता है। ऐसा लगता है समय ही सब कुछ है।

पुरुषार्थ को सुनेंगे तो लगता है कि पुरुषार्थ के सिवाय और कुछ नहीं है। सत्य यही है कि पुरुषार्थ करें।

भाग्य के उदाहरण हजारों मिलेंगे। पढ़ा-लिखा नौकरी कर रहा है और अनपढ़ धनवान बना हुआ है। वर्षों तक पुरुषार्थ किया पर कुछ नहीं बना। नियतिवादी कहते हैं—सब अपने आप हो जाएगा। करने कौन

शान्ति कभी नहीं मिलेगी। इसलिए दृष्टि को सापक्ष बनाए। जो सत्य दुनिया मे है उसे सोलह के सोलह आना कहने के लिए किसी के पास शब्द नहीं हैं। मैं बोल रहा हू और जानता हू कि अनत सत्य के एक अश पर निश्चित बोल रहा हू। अश को पूण मानते ही सत्य की हत्या हो जाती है।

ज्ञान अच्छा है। पर आप उसकी पकड मे आ गए तो कम-विमुखता प्राप्त होगी। इस कम-विमुखता की स्थिति का अनुभव हुआ, तभी यह कहना पडा—

'दुभगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञान स्वयमनाचरत ।'

'जो आचरण नहीं करता उसका ज्ञान विधवा के शृगार के समान है।' क्षमा अच्छी है पर सवत्र उसकी अच्छाई मान्य नही हुई। इसीलिए कहा गया—

'क्षमा भूषण यतीना न भूपतीना।'

सन्तोष अच्छा है। उसके समान सुख नही है पर सन्तोषी राजा अपना राज्य गवा देता है 'सन्तुष्टो राजा विनश्यति।'

सन्तोषी व्यापारी भी नष्ट हो जाता है। हर विचार अपनी भूमिका से आता है। उसी के सन्दर्भ मे उसका मूल्याकन होता है और होना चाहिए।

सत्य अनन्त है। कोई भी शब्द व भाषा उसके एक अश को भी पूरा नहीं कह सकती। हम कहते हैं, सर्वज्ञ ने ऐसा कहा है। सर्वज्ञ जान सकता है पर कह तो नही सकता। इसीलिए कहा गया है कि प्रज्ञापनीय अनन्त है। वाणी का विषय उसका एक हिस्सा भी नही बनता।

तीन लोक के सारे द्रव्य-पर्यायो को जाननेवाला भी एक द्रव्य के अनन्त पर्यायो मे से हजार पर्यायो की भी व्याख्या नही कर सकता।

एक व्यक्ति जितना जानता है उतना ही ठीक है, या जो जानता है वही ठीक है, शेष नही—यह असत्य है। जो पहले जान लिया गया वही ठीक है, शेष नही, तो क्या पूवजो ने यह कभी कहा कि हमने पूरा सत्य कह दिया है, आगे के लिए दरवाजा बन्द है? यह मानना चाहिए कि जब

तक ससार रहेगा, मनुष्य रहेगा, आत्मा की उपासना रहेगी, सत्य की खोज रहेगी, तव तक नई-नई उपलब्धिया होती रहेगी। यह दृष्टि स्पष्ट रहेगी तो अपनी मानसिक शान्ति का भग नही होगा।

दादा धर्माधिकारी ने आर्थिक उत्पादन और वितरण के पहलू पर प्रकाश डाला। जैनेन्द्र जी ने वाह्य परिस्थिति पर प्रकाश डाला, कभी-कभी आन्तरिकता पर भी। मैंने मानसिक शान्ति की चर्चा की।

ये सारे चिन्तन एकागी हैं। जीवन का पक्ष एक ही नही है। मानसिक शान्ति की चर्चा हो, यदि रोटी न हो तो शान्ति नही मिलती। भूखा क्या पढेगा? प्यास है, क्या वह साहित्य के रस मे वुझ जाएगी?

एक रोगी स्वास्थ्य की कामना लिए चला। आयुर्वेदिक, होमियोपैथिक, ऐलोपैथिक, यूनानी, प्राकृतिक आदि चिकित्सको के पास गया। सवने अपनी-अपनी पद्धति का महत्त्व वताया और दूसरी का खण्डन किया। मैंने कई प्राकृतिक चिकित्सको को सुना है। वे जव ऐलोपैथी का खण्डन करते हैं तव उनकी आत्मा मुखर हो उठती है। मैं स्वय प्राकृतिक चिकित्सा को महत्त्व देता हू। लेकिन ऐकान्तिक आग्रह मुझे अच्छा नही लगता। शल्य-चिकित्सा मे प्राकृतिक चिकित्सा क्या करेगी? आयुर्वेद वाले ऐलोपैथिक का खण्डन करते है। वे कहते हैं—ऐलोपैथी दवा रोग को एक वार दवा देती है, उसकी प्रतिक्रिया होती है, तव दूसरे रोग उभर आते हैं। आयुर्वेदी चिकित्सा मे रोग को जड से मिटाने का प्रयत्न होता है और ऐलोपैथी मे वर्तमान पर ध्यान दिया जाता है। दीर्घकालीन चिकित्सा मे आयुर्वेद सक्षम है और तात्कालिक चिकित्सा मे ऐलोपैथी भी। द्रव्य-क्षेत्र, काल और भाव—इन सारी दृष्टियो से देखने पर सत्य के निकट पहुचा जा सकता है। एकागी दृष्टि मे सत्य का किनारा नही मिलता।

कई अध्यात्म पर वल देते है पर आसन, प्राणायाम आदि को अच्छा नही मानते। यह एकान्तिक आग्रह है। अमुक-अमुक रोग मे आसन और प्राणायाम भी उपयोगी वनते है। एक भूमिका मे धर्म साधन है और आवश्यक है पर मुक्ति-दशा मे धर्म अनावश्यक वन जाता है। एकागी आग्रह निर्मो

भी क्षेत्र मे ठीक नहीं। एक वात को त्रैकालिक मान पकड बैठने मे कठिनाई होती है।

हमारे व्यवहार की भूमिका यह है कि हम न अप्रिय सत्य वोलें और न असत्य वोलें किन्तु पाक्षिक सत्य वोलें। इस विषय मे मैं एक कहानी प्रस्तुत कर रहा हू। एक वार एक राजा ने, जो कि काना था, चित्रकारो को आमत्रित किया। उसने कहा—'मेरा चित्र सुन्दर होना चाहिए, सत्य होना चाहिए, किन्तु नग्न सत्य नही होना चाहिए। एक लाख रुपये के पुरस्कार की घोषणा की। सवके सामने समस्या थी कि शर्तों की पूर्ति कैसे हो? तीन चित्रकारो ने चित्र वनाना स्वीकार किया। एक चित्रकार चित्र ले जव राजा के पास पहुचा तो उसे देख राजा ने कहा—'चित्र सुन्दर है, मुह से वोल रहा है पर सत्य नही है क्योकि इसमे दो आखें दिखाई गई है।' दूसरे चित्रकार का चित्र देख राजा ने कहा—'चित्र साक्षात् वोल रहा है, सुन्दर भी है पर इसमे एक आख फूटी हुई दिखाई गई है, इसलिए यह नग्न सत्य है।'

तीसरे ने तन्मयता से सोचकर चित्र बनाया। उसने कल्पना से दिखाया कि राजा शिकार के लिए प्रत्यचा ताने हुए है जिससे हाथ की ओट में एक आख आ गई। राजा ने उसे देखकर प्रसन्नता व्यक्त की और उसे एक लाख रुपये दिए। तीसरा चित्र न असत्य था और न नग्न सत्य किन्तु पाक्षिक सत्य था।

कई लोग स्पष्ट कहने में अपना गौरव मानते हैं। पर नग्न सत्य ग्राह्य नही होता। कई लोग दूसरे को प्रसन्न रखने के लिए असत्य का सहारा लेते हैं। वह उनके अहित के लिए होता है। पाक्षिक सत्य ग्राह्य भी होता है और हितकर भी।

हमारा दृष्टिकोण सर्वांगीण, सामजस्यपूर्ण और सापेक्ष होना चाहिए। सर्वांग दृष्टि मे सत्य की दूरी नहीं होती। सारे विचारो को एक सूत्र मे पिरोने से माला वन जाती है। यही अनेकान्त है। एक माला न बनने से एक-एक मनका विखर जाता है।

सत्य को किसी पर थोपने का अधिकार मुझे नही है। मैंने तो स्याद्-वाद के विचार से अपने-आपको बांधा है। मुझे लगता है दृष्टि सत्योन्मुख है तो जीवन मे कोई क्लेश नही है। आचार्यश्री ने मुझे सत्य की दृष्टि दी है। आगम-शोधकार्य के लिए आचार्यश्री ने मुझे कहा—'हम बडा दायित्व-पूर्ण काय कर रहे हैं। कही भी साम्प्रदायिक दृष्टि से मत सोचना कि हमारी मान्यता क्या है? जो सत्य लगे उसे प्रकट कर देना है। अपनी परम्परागत मान्यता के लिए उल्लेख किया जा सकता है कि हमारी मान्यता यह है। पर सत्य को अपनी मान्यता से नही रगना है।'

व्यक्ति अधिक प्रिय है या सत्य? परिस्थिति अधिक प्रिय है या सत्य? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य भिक्षु ने दिया था। उन्होने कहा—'आज मैं जो कह रहा हू, वह मेरी दृष्टि मे शुद्ध है। कल कोई बहुश्रुत या तत्त्वविद् हो, उसे यह ठीक न लगे तो इसे छोड दे।' उन्होंने कभी ऐसी लक्ष्मण-रेखा नही खीची कि इस रेखा से बाहर सत्य नही है। ऐसा कहना आग्रह हो जाता है।

कोई भी शब्द, भाषा या पदार्थ ऐसा नही है जो सत्य की परिपूर्ण व्याख्या दे सके, सारे विचारो को हम इस सदर्भ मे देखें। सापेक्ष सत्य मान-कर उसे स्वीकार करें। समग्रता से जो बात आएगी, वह ग्राह्य होगी।

सूर्य चला जाता है, फिर अधकार छा जाता है। पुराने जमाने मे दीप से प्रकाश करते थे। आज बिजली से प्रकाश किया जाता है। प्रकाश के अनेक साधन हो सकते है और उनमे तारतम्य भी हो सकता है। परन्तु प्रकाश प्रकाश है। सूर्य प्रकाश देता है और दीया भी प्रकाश देता है। वैसे ही सत्य है। सत्य चाहे सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ हो या किसी तुच्छ व्यक्ति द्वारा। सत्य सत्य है, उसमे अन्तर नही। मात्रा म तारतम्य हो सकता है।

समग्रता के सदर्भ मे आप सारी प्रक्रिया पर विचार करेंगे तो मुझे विश्वास है कि आप मानसिक शान्ति से वचित नही रहेगे।

निगमन

यदग्राह्य न गृह्णाति, गृहीत नापि मुचति।
जानाति सवथा सर्वं, तत् स्वमवेद्यमस्म्यहम्॥

आचार्य पूज्यपाद ने अर्ह की व्याख्या करते हुए कहा है—जो अग्राह्य का ग्रहण नही करता, गृहीत को छोडता नही, सबको सर्वथा जानता है, वह 'अर्ह' है। जहा अग्राह्य का ग्रहण, गृहीत का मोचन और असर्व का ज्ञान है, वहा अर्ह की सत्ता-प्राप्ति नही है।

जो अर्ह की कल्पना है, वही अहिंसक समाज की कल्पना है। स्वभाव कभी त्यक्त नही होता, त्यक्त विभाव होता है। जो 'अर्ह' मे इतर है, उसे त्यागना है। यही अणुव्रत है।

प्रश्न—अणुव्रत-साधना-शिविर मे खेती, उत्पादन, औजार आदि की चर्चा होती है, अच्छा खाते-पीते हैं, मनोरजन करते हैं, क्या यही साधना है ? ध्यान, मौन आदि तो कम होते हैं। यह साधना-गृह है या मनोरजन-गृह ?

उत्तर—जो साधना की निश्चित रेखा बना रखी है, उसी के भीतर साधना है, बाहर नही, यह क्यो मान रखा है ? साधना क्या है ? पहले इसे समझें। ध्यान, मौन, शिथिलीकरण साधना है, पर क्या बोलने-चलने, खाने-पीने, उठने-बैठने में साधना नही है ? एक-दूसरे के साथ सद्व्यवहार करना साधना नहीं है ? यदि नही, तो मैं कहूगा साधना का अर्थ आपकी समझ मे ही नही आया।

दो राजा अपने-अपने रथ पर चढ शिकार को गए। एक का रथ जल गया। दूसरे का घोडा मर गया। दोनो अपूर्ण हो गए। जगल से वापस आने में कठिनाई हुई। दोनों ने समन्वय किया। एक ने घोडा दिया और दूसरे ने रथ। रथ पूर्ण हो गया, दोनो बैठ नगर मे आ गए। इसे दग्धाश्व रथ न्याय कहते हैं। साधना की भी यही बात है। उसका एकागी रूप पार ले जाने वाला नहीं होता। अमुक देश, काल व प्रवृत्ति मे साधना हो सकती

है, अन्यत्र नही हो सकती, यह आग्रह जहा है, वहा साधना की अखण्डता मान्य नही है। दो घटे साधना मे बीते और शेष बाईस घटे असाधना मे, यह जीवन की द्विविधा है।

इससे दूसरो के मन मे धर्म के प्रति श्रद्धा नही होती। प्रात काल उठने से लेकर सोने तक जीवन के हर व्यवहार मे द्विविधा न रहे, साधना की एकलयता रहे, यही अणुव्रत है। अणुव्रत शब्द से ही साधना का भाव प्रकट होता है। फिर भी 'अणुव्रत साधना शिविर' मे अणुव्रत शब्द के आगे साधना शब्द और जोडा गया है। सस्कृत-व्याकरण मे 'वीप्सा' शब्द आता है। वीप्सा का अर्थ है—'व्याप्तु मिच्छा'—अर्थात् व्याप्त होने की इच्छा। वीप्सा मे दो बार, चार बार कहना दोष नही है। वीप्सा के अर्थ मे ही अणुव्रत शब्द के आगे साधना का योग किया गया है।

ध्यान, मौन, आसन आदि आवश्यक नही, ऐसा नही है। पर वे ही साधना नही हैं। दिन-भर के व्यवहार मे जागरूक रहना साधना है। एक व्यक्ति अभी शिविर मे रहा, बहुत धार्मिक था। बडी निष्ठा के साथ चार-पाच घटे ध्यान, मौन आदि करता था। पर व्यवहार की उपेक्षा करता था। पत्नी और ससुरालवाले सब नाराज थे। उन लोगो की भी उन्हे देख धर्म के प्रति अरुचि-सी हो गई थी। वह धार्मिक क्या जो व्यवहार का लोप करे। यहा रहकर साधना की और साधना के बारे मे विचार बदले। जीवन मे परिवर्तन आया। ज्योही धर्म-आचरण के साथ व्यवहार के प्रति सजग हुआ, साधना को हर व्यवहार मे उतारने का यत्न किया तो आस-पास का वातावरण प्रसन्न हो गया।

यदि जीवन मे मानवीय व्यवहार का प्रतिबिम्ब न हो, विचारो मे स्पष्टता न हो, मिथ्या दृष्टिकोण हो और हम कल्पना करें कि ध्यान होगा, कैसे होगा? साधना को एकागी या विभक्त मानकर चलें तो वह सही है। उपवास, ध्यान, मौन—ये साधन हैं। साधन और सिद्धि का व्यवधान कम होगा, उतनी ही साधना सफल होगी।

स्थितप्रज्ञ सारे दिन बोलता है, फिर भी वह मौन है। क्रोध या लडाई

से मुह सुजाकर बैठ जाना क्या मौन है ? यदि है तब तो बगुला भी ध्यानी हो जाएगा। इसी भ्रम मे राम ने बगुले की प्रशसा की थी—

पश्य लक्ष्मण ! पपाया, वक परमधार्मिक ।
दृष्ट्वा-दृष्ट्वा पद धत्ते, जीवाना वधशकया ।।

राम की बात सुन एक मछली बोली—

'वक किं शस्यते राम ! येनाह निष्कुलीकृत ।
सहचारी विजानीयात्, चरित्र सहचारिणाम् ।।'

वहू रूठकर घर के कोने मे बैठ गई। कुछ नही खाया । क्या उसे उपवास मानेंगे ? कुछ नही करना ही साधना नही है और कुछ करना ही असाधना नही है। साधना वह है, जहा आन्तरिक जागरूकता हो, भले फिर वह प्रवृत्ति हो या निवृत्ति ।

• ० ०